प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली–६

प्रथम संस्करण
जनवरी १९६१
मूल्य
तीन रुपये बारह नये पैसे (३.१२)

[illegible] प्रिंटिंग प्रेस,
कवींस रोड, दिल्ली ।

दो शब्द

एम० ए० की परीक्षा के लिए पालि-भाषा का कुछ अध्ययन करते समय इसमें मेरी रुचि विशेषता से बढ़ गई, किन्तु जब मैं एम० ए० के छात्रों को पालि-अध्ययन कराने लगा तो मेरी सुषुप्त रुचि समय का व्यवधान होते हुए भी उसी प्रकार सजग हो गई, जिस प्रकार भस्मावृत स्फुलिंग फूंक से अपनी प्रखरता में अभिव्यक्त होता है। छात्रों के अध्ययन की सुविधा के निमित्त मैंने अनेक लेख लिखे जिनसे उनका लाभ तो अवश्य हुआ किन्तु मेरी तृप्ति न हो सकी। पालि-भाषा और साहित्य में जैसे-जैसे मेरा प्रवेश बढ़ता गया वैसे-वैसे मेरी तद्विषयक रुचि तीव्र और दुर्दम होती चली गई।

एक बार जब मैं आधुनिक कहानी की कसौटी पर जातक का मूल्यांकन करने के लिए अपने अनेक छात्रों के सत्याग्रह से प्रेरित हुआ तो मैंने भी उनसे 'पालि-भाषा और साहित्य' के अध्ययन की चर्चा छेड़ दी। फिर तो उनके आग्रह से मेरी मुक्ति दुर्लभ ही नहीं असंभव हो गई। मेरे एक प्रिय छात्र के दैन्य-प्रकाशन ने मेरे हृदय को द्रवित कर दिया और मैंने उसे आश्वासन देकर भेज दिया।

उसी क्षण मैं पालि के अध्ययन में लग गया। अनेक ग्रन्थों की सभा में जब मैं बैठकर विचार करने लगा तो मुझे अनेक गंभीर बातों का परिचय मिलता चला गया, फिर भी कुछ-न-कुछ नई बातें मुझे सूझती गई और मैंने एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखने का निर्णय कर लिया। उसी निर्णय का परिणाम प्रस्तुत पुस्तक है।

इस रचना में मेरे श्रम के साथ मेरी सूझ हो सकती है किन्तु प्रेरणा मेरे छात्रों की है और विशेषतः छात्र विशेष की जिसने मेरी करुणा को छूकर मुझे इस रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

मुझे आशा है कि यह कृति पालि-छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होकर मेरे श्रम को सफल बनायेगी।

२६ जन० १९६१ —लेखक

विषय-सूचनिका

पहला अध्याय
पालि भाषा का इतिहास

दूसरा अध्याय
पालि का अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

तीसरा अध्याय
पालि-साहित्य

विषय-सूचनिका

पहला अध्याय
पालि भाषा का इतिहास

दूसरा अध्याय
पालि का अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

तीसरा अध्याय
पालि-साहित्य

चौथा अध्याय
आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य पर पालि-साहित्य का प्रभाव

पाँचवाँ अध्याय
शिक्षा और सिद्धान्त

छठा अध्याय
पालि-व्याकरण का परिचय

परिशिष्ट

: १ :

भाषा का इतिहास

आर्यों और अनार्यों का मिलन

आर्यों की अपनी वाणी थी, इसका प्राचीनतम लिखित प्रमाण हमे ऋग्वेद मे मिलता है। भारत मे आर्यों के साथ-साथ कुछ और लोग भी रहते थे जिनको हम किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव मे अनार्य कह सकते हैं। उन लोगो के साथ आर्यों का संघर्ष भी होता रहता था और सम्पर्क भी। दोनों के सम्पर्क से जातियो का मिश्रण हुआ तथा संस्कृतियो, धर्मों, विचारों और भाषाओं मे भी मेल-मिलाप उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इतिहास-प्रसिद्ध हिन्दू-जाति की नीव पडी। डा० सुनीति-कुमार चटर्जी ने यह समय ईसवी पूर्व एक हजार वर्ष के आसपास बतलाया है। आर्यो की और अनार्यों की अनेक ऐतिहासिक और अन्य कहानियाँ आपस मे ऐसी मिल गयी कि उनको एक-दूसरी से पृथक् करना दुस्सभव हो गया। इस प्रकार रामायण, महाभारत और पुराण-साहित्य का बीज-वपन प्रारभ हुआ। आर्यों और अनार्यों के सम्मिलन के परिणाम स्वरूप जो मिश्रित जाति प्रादुर्भूत हुई उसने अपनी परम्परा की पृष्ठभूमि मे एकता को देखा। कहना न होगा कि जातीय निर्माण की प्रारम्भिक शताब्दियों मे संश्लिष्ट संस्कृति का विकास ही देखने को मिलता है।

आर्य-भाषा का प्रसार

यह कहा जाता है कि भारत मे आर्यों का आदितम स्थान उत्तर-पश्चिम मे, पजाब मे, था और वहाँ से वे पूर्व की ओर फैलते चले गये। उत्तर-पश्चिम भारत की भौगोलिक विशेषताओं के गर्भ मे विकसित उनकी भाषा भी उनके साथ पूर्व की ओर फैलती चली गयी। अनार्यों की बोलियों मे अनेकता होने से तथा आगे बढ़ते हुए आर्य-विजेताओं की राजनीतिक शक्ति के कारण अनार्य भी उनकी भाषा को ग्रहण करते चले गये। उनकी इस भाषा विषयक स्वीकृति मे आर्यों की साहसिकता, निर्णयात्मिका बौद्धिक शक्ति और विचार-नेतृत्व का भी बहुत कुछ हाथ रहा।

इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे सारे उत्तरी भारत में आर्य-भाषा का प्रचलन हो गया।

प्रभुत्व का समय और लिपिकाल

अनार्य भाषाओं के स्थान पर आर्य-भाषा का प्रभुत्व ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में ही हो गया और ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शासन अफगानिस्तान की सरहद से लेकर बंगाल तक हो गया। सबसे पहले अनेक आर्य बोलियों से एक साहित्यिक बोली विकसित हुई जो कलात्मक प्रयोगों की भाषा थी और जिसमें उनके कवि दैवी स्तुतियाँ लिखते थे, जो सग्रहीत और लिखित रूप में ईस्वी पूर्व दसवीं शताब्दी के पश्चात् वेदों के नाम से अभिहित हुई थी और एक लेख-परंपरा का सर्वप्रथम प्रयोग अधिक सम्भवत: भारत में आर्य भाषा में हुआ जिसका एक रूप पूर्व-आर्य-लेखों (Pre-Aryan Writings) पर आधारित था और जो दक्षिणी पंजाब के हड़प्पा और सिंध के मोहन-जोदड़ो आदि के खंडहरों में मिलने वाली मुद्राओं में या अन्य खुदे हुए लेखों में मिलता है। यह एक प्रकार से ब्राह्मी का पूर्व रूप है।

वैदिक भाषा

वैदिक (साहित्यिक) भाषा का प्रारम्भ पद्य या काव्य बोली में हुआ और यही बोली आर्यों की उस समय की सामान्य या अनिवार्य भाषा थी जबकि वे उत्तर-पश्चिमी भारत में बसे हुए थे। आर्यों की बोल-चाल की भाषा विकसित होती रही, किन्तु वैदिक साहित्य या काव्य की भाषा उसी समय सदैव के लिए स्थिर हो गयी जब कि मंत्रों को लिपिबद्ध किया और इस भाषा का अध्ययन आर्यों के धार्मिक क्षेत्र में सीमित होगया। दर्शन, धर्म और कर्म-कांड की भाषा (वह कर्म-कांड जिसका सम्बन्ध वैदिक यज्ञों और संहिताओं से था) ईस्वी पूर्व दसवी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के बीच में विकसित हुई। यह भाषा ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत थी जो संहिताओं की भाषा से बाद की थी। इसका निर्माण उन ब्राह्मण विद्वानों ने धीरे-धीरे किया था जो सारे उत्तरी भारत में पश्चिमी पंजाब से लेकर पूर्वी बिहार तक फैल गये थे।

संस्कृत का उदय

जब विद्वानों ने यह देखा कि बोल-चाल की भाषाएँ प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के स्तर से जो वेदों अथवा छंदस् की भाषा में सुरक्षित थी, बहुत दूर चली गयीं और जिसके विगलन का कारण उन्हें न केवल काल-क्रम में दीख पड़ा, अपितु

अनार्य जातियो मे आर्य-भाषा के प्रचार मे भी दिखायी दिया तो ब्राह्मण पंडितों ने एक साहित्यिक भाषा का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया–ऐसी भाषा का निर्माण जो बोल-चाल की भाषा की तरह विकृत न होकर स्थिर रहे। उस समय ब्राह्मण-शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र पंजाब और मध्य देश मे थे जो आज के गंगा के दुआवे के ऊपरी भाग और दक्षिण-पूर्वी पंजाब की स्थिति से समझे जा सकते हैं। वहाँ की बोलचाल की आर्य भाषाएँ इतनी भ्रष्ट नहीं थी जितनी पूर्व की जो कि भारत में आर्यों मूल निवास से बहुत दूरस्थ था। यह माना गया था कि वास्तव मे वहाँ विशेषतः उदीच्य (उत्तर-पश्चिम) में, आर्यवाणी-सर्वोत्तम रूप मे बोली जाती थी। इन ब्राह्मण विद्वानो के सामने साहित्यिक भाषा का एक बहुत अच्छा आदर्श प्रस्तुत था जो वेदों की काव्य-भाषा मे और उसके पश्चात् की उस भाषा मे जो ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य मे और उपनिषदों मे मिलता था। इसके आधार पर उस भाषा को बोलचाल की परिस्थितियों के अनुकूल थोडा सा सरल बनाकर एक साहित्यिक भाषा निर्मित की गयी जो मानव-सभ्यता और विचार की सबसे बड़ी भाषा थी। इसी का नाम संस्कृत भाषा हुआ। पाणिनि द्वारा इसका व्याकरण प्रयोगात्मक रूप से सदा के लिए नियत कर दिया गया। पाणिनि उत्तर-पश्चिमी पंजाब का निवासी था और उसका समय ईस्वी पूर्व होगया था। वस्तुतः यह कहना असंगत न होगा कि ब्राह्मण ग्रन्थों की गद्य-भाषा से ही परोक्षरूप से संस्कृत का विकास हुआ। अतएव वैदिक या ब्राह्मणिक बोलियों को संस्कृत का मूल रूप कह सकते हैं इस प्रकार वैदिक और 'क्लासिकल' संस्कृत को एक भाषा की परम्परा मे रखना अनुचित न होगा।

संस्कृत की प्रतिष्ठा

संस्कृत शिष्ट समाज की भाषा हुई। उसको ब्राह्मणों ने अपनाया जिनको पतंजलि ने (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) "सरल जीवन और उच्च विचार" के आदर्श का अनुपालन करने वाले कहा है। यह भाषा प्राचीन भारत की पवित्र और साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हुई। बाद मे बौद्धों और जैनों ने ब्राह्मणों के समान ही इसका सम्मान किया। संस्कृत भाषा का उदय उस देश मे हुआ जिसे आज पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश कहते हैं। हिन्दू-संस्कृति[१] के

---

१. यहाँ 'हिन्दू' शब्द के प्रयोग से प्राचीन भारतीय का अभिप्राय ही ग्रहण करना चाहिये। इसमें ब्राह्मण आदि तथा बौद्ध और जैन सभी का संकेत ग्रहण किया जा सकता है।

प्रसार के साथ-साथ ही संस्कृत भाषा का प्रचार हुआ। वहाँ से यह पश्चिम और उत्तर में ईरान, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत और चीन में तथा बौद्ध धर्म के अभ्युदय काल में कोरिया और जापान तक में फैल गयी। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों इसे लंका, बर्मा, हिन्दी-चीन, मलाया, इंडोनेशिया (सुमात्रा, जावा, बाली, लोम्बक, बोर्नियो आदि) में ले गये। हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत भाषा प्राचीन भारत की संस्कृति और प्रवृत्ति का वाहन थी, और यही देव-स्तुति और धर्म-संस्कारों की भाषा थी।

यह नहीं समझ लेना चाहिये कि संस्कृत देश के किसी एक भाग की भाषा थी। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में पंजाब और मध्यदेश की बोलियों ने सम्भवतः संस्कृत को आधार रूप प्रदान किया, किन्तु फिर भी यह बड़ी जीवित भाषा थी। हर जगह इसका प्रयोग होता था, चाहे किसी भी परिवर्तित रूप में सही। इसका प्रयोग प्रायः विद्वान और धार्मिक लोग ही करते थे, ऐसी बात नहीं थी, अपितु इधर-उधर आने-जाने वाले लोग भी जो निरे गँवार नहीं होते थे, इस भाषा का ही प्रयोग करते थे।

प्राकृतों का आविर्भाव

शेष आर्य-भारत की बोलचाल की भाषाओं में बहुत अन्तर होता चला गया। कालक्रम से देश के अनेक भागों से सम्बन्धित होकर ये भाषाएँ प्राकृतों के रूप में विकसित हुईं। इन भाषाओं के अनेक भेद थे किन्तु वैयाकरणों ने इनके पाँच प्रमुख भेद माने हैं—(१) शौरसेनी, (२) महाराष्ट्री, (३) मागधी, (४) अर्द्धमागधी और (५) पैशाची।

इन प्राकृतों का बीजारोपण कब हुआ यह तो निश्चित रूप से कहना दुष्कर है, किन्तु बुद्ध के समय तक प्राकृतों का अन्तर स्पष्ट होगया था। पूर्व की बोली, उस बोली के स्तर से जिसको वेदों में स्वीकार किया गया था और जिसको संस्कृत में सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया था, बहुत कुछ भिन्न हो चुकी थी और यह एक अलग भाषा मानी जाने लगी थी।

बुद्ध और महावीर विचारकों द्वारा संचालित दार्शनिक आन्दोलन वैदिक (ब्राह्मण धर्म में प्रशस्त) यज्ञों और संस्कारों के विरुद्ध थे, अतएव उनमें छान्दस् या वैदिक भाषा का विरोध था। इस कारण बौद्धों और जैनों ने बोलचाल की भाषा को अपनाया। कहा जाता है कि महावीर के उपदेशों की भाषा अर्द्धमागधी थी।

बुद्ध के उपदेशों की भाषा

जो हो, इससे हमारी समस्या का हल नहीं मिलता। प्रश्न तो यह है कि बुद्ध ने अपने उपदेश किस भाषा में दिये और क्या वही पालि थी। यहाँ दो उत्तर प्रकट होते हैं, एक तो यह कि उन्होंने अपने उपदेश अपनी बोली (कौसलदेश की बोली) में दिये होंगे और दूसरा यह कि उन्होंने अपने उपदेश किसी ऐसी प्रमुख बोली में दिये होंगे जिसको वे भी अच्छी तरह बोल और समझ सकते हों तथा उनके सुनने वाले भी समझ सकते हों। यह वही भाषा हो सकती थी जो मध्यकालीन आर्य-भाषा के पूर्वी रूप में आविर्भूत हुई। उस समय उनका प्रसार उस सारे देश में था जिसको आज पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार (अवध, बनारस, गोरखपुर, उत्तर बिहार और दक्षिण बिहार) कहते हैं। ऐसा अनुमान है कि उस समय वह साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित होने लगी थी। आगे चलकर यही पूर्वी बोली सम्राट अशोक की राजकीय भाषा भी बन गयी। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि यही भाषा बौद्ध और जैन धर्मों की मूल भाषा थी, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश जिस भाषा में दिये थे उसी में उनको लिखित रूप भी दिया गया। डा० चटर्जी के मत के प्रकाश में यह अनुमान तो किया जा सकता है कि संभवतः बुद्ध ने अपने उपदेशों में इसी भाषा का प्रयोग किया हो, किन्तु यही भाषा "पालि" नाम से अभिहित हुई, यह अभिप्राय ग्रहण नहीं किया जा सकता।

पालि भाषा

'पालि' कौनसी भाषा है? यह प्रश्न कुतूहलजनक है। प्रायः अखिल विश्व में भाषा का नाम जन या जनपद के नाम पर होता है। इस बात को भाषावैज्ञानिक ही क्या समझते हैं। देखने में आता है कि 'वंग' लोगों की भाषा 'बंगला,' 'गुर्जर' लोगों की 'गुजराती', 'महाराष्ट्र' की 'मराठी' 'काश्मीर' की 'काश्मीरी' आदि व्यपदेश इसी सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं। इस ढंग से भाषाओं का नामकरण प्राचीन युग में भी होता था। शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री आदि नाम इसी सिद्धांत के सूचक हैं, परन्तु पालि का सम्बन्ध किसी देश विशेष या जनपद विशेष से न मिलने के कारण यह नाम विचित्र प्रतीत होता है।

अनेक मत

इस सम्बन्ध में भाषा विज्ञान के पण्डितों में मतभेद है। कुछ लोग भारतीय

मत को बिल्कुल नही मानते, और कुछ भारतीय और अभारतीय मत स्थिर करते हैं, किन्तु इन सबसे हमारा आशय सम्पन्न नहीं होता। इतिहास के प्रमाणों द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जब भगवान् बुद्ध अपनी चिरसमाधि द्वारा 'बोधि' अर्थात् सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर 'बोधिसत्व' की पदवी को लांघकर 'बुद्धता' को प्राप्त हो गए तब उनकी परमकारुणिकता का प्रस्फुरण हुआ और लोक का शोक से उद्धार करने के लिए उनकी बलवती इच्छा प्रकट हुई। समाधियों द्वारा स्वानुभूत तत्व का भलीभांति समाधान करके उन्होंने उसे जनता में प्रसारित करने का निश्चय किया। उनका प्रथम प्रवचन काशी में हुआ। उनके उपदेशामृत का पान सामान्य जन भी सरलता से कर सकें इसलिए उन्होंने उसको लोक-भाषा में ही प्रदान किया। यदि इन प्रस्तावों में से किसी एक को मान भी लें कि (१) बुद्ध ने अपने उपदेश कोसलदेश की भाषा में दिए, (२) मागधी में दिए, अथवा (३) अर्द्धमागधी में दिए, तो भी यह तो सिद्ध नहीं होता कि जिस भाषा में बौद्ध धर्म ग्रन्थ सुरक्षित हैं जो हमारे अध्ययन का विषय है वह इन्हीं में से कोई एक भाषा है। पालि कहां की भाषा थी, उस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी निर्णय पर पहुँचने से पूर्व उनका पर्यवलोकन कर लेना बहुत आवश्यक है।

(१) मैक्सवेलेजर पालि को पाटलिपुत्र की भाषा मानते हैं। वे पाटलिपुत्र का विकृत रूप 'पालि' में देखने की चेष्टा करते हैं।

(२) आर० सी० चाइल्डर्स के अनुसार अन्त:साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पालि' लोक-भाषा थी। संस्कृत से तुलना करने पर जो परिवर्तन 'पालि' में दीखते हैं, वे प्राय: शब्द-कोश सम्बन्धी हैं। इसकी वर्णमाला में स्वरों की न्यूनता है, द्विवचन नष्ट हो गया है, कुछ धातुएं नई हैं और अनेक स्वर-रूप विलीन हो गए हैं। विसर्ग लुप्त या 'ओ' में परिवर्तित हो गया है। दूसरी दिशा में स्वर-परिवर्तन की स्वतन्त्रता तथा नई संज्ञाओं और क्रियारूपों का आगमन भी कुछ कम लाभ नहीं है। 'पालि' में कुछ द्रविड संज्ञाओं के सिवा कोई विदेशी तत्व नहीं है। इसकी रूपात्मक स्थिति अपनी सरलता और नए भाव में भी 'संस्कृत' की-सी है। शब्द-कोश, व्याकरण और वाक्य-विन्यास की व्याख्या संस्कृत से की जा सकती है।

(३) जेम्स आलविस के मत से बौद्ध धर्म के आविर्भाव के समय संस्कृत लोगों की बोल-चाल की भाषा नहीं थी। पालि भारत में प्रचलित भाषाओं में से एक

थी। यह मगध की भाषा थी। उन्होंने पालि में अनेक ऐसे शब्दों की खोज की है जो धर्म-सम्बन्धी है और जो संस्कृत में भी मिलते है, किंतु उनका अर्थ भिन्न है। इस मत के अनुसार पालि अशोक के समय तक लगभग दो शताब्दियों से भी ऊपर देश में प्रचलित रही। शिलालेखों और पालि-ग्रन्थों की भाषा के अन्तर का कारण बताते हुए जेम्स आलविस लिखते हैं कि शिलालेखों की भाषा बोल-चाल में रहने से परिवर्तित हो गई थी और पालि-ग्रन्थों की भाषा धर्म शास्त्र की पवित्र भाषा के रूप में स्थिर हो गई। इस मत के अनुसार पालि का सही और मौलिक नाम मागधी है। इससे स्पष्ट है कि वे चाइल्डर्स से सहमत हैं। उनका तो यह भी कहना है कि गौतम के समय भारत में सोलह बोलियाँ प्रचलित थी। उनमें मागधी प्रमुख थी। हीनयानी बौद्ध-ग्रन्थ उसी में लिखे गए। लंका में सुरक्षित पालि-व्याकरण के पैंतीस ग्रंथ पालि-भाषा के तत्कालीन मान और मूल्य को प्रमाणित करते है। भाषा के परिष्कृत रूप, व्याकरण सम्बन्धी सरलता और ब्राह्मणों की प्राचीनतम भाषा के सम्बन्ध से यह प्रमाणित होता है कि यह भाषा बहुत प्राचीन है। एशिया में पालि का ह्रास उस धर्म के ह्रास के साथ हुआ जिसकी शिक्षा इसके माध्यम से दी जाती थी।

(४) डा० ओल्डनबर्ग की मान्यता है कि पालि कलिंगदेश की भाषा थी। उनका कहना है कि लंका के पड़ोसी होने के कारण से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। इसके अतिरिक्त खडगिरि के शिलालेख से भी पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग यह सिद्ध करते हैं कि महिन्द का धर्म प्रचारक होना अनैतिहासिक तथ्य है, अत यह कहना कि लंका में पालि का प्रचार महिन्द द्वारा किया गया था, असत्य है। सच तो यह है कि कलिंग के लोगों के प्रभाव के कारण पालि लंका में पहुँची। ओल्डनबर्ग के अनुसार पालि का स्थान विन्ध्याचल के उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक था।'[1]

(५) डा० स्टेन कोनो के मत से पालि विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा थी। उन्हें पालि और पैशाची प्राकृत (जो विन्ध्याचल के उत्तरवर्ती देश में बोली जाती थी) में समता प्रतीत होती है और यह समता दोनों भाषाओं के पड़ोसी होने के कारण ही है।

१ दगिद, विनयपिटक, भूमिका, पृष्ठ १

(६) ई० विडिश और सर जार्ज ग्रियर्सन के मत से मागधी ही अपने साहित्यिक रूप में पालि है, ग्रियर्सन ने कोनो के मत का विरोध करते हुए कहा है कि बोली थी और बुद्ध के समय कैकेय देश विशेषतः तक्षशिल, विद्या के लिए प्रसिद्ध था। उन दिनों मागधी का भारत में बहुत सम्मान था और तक्षशिला में भी वह शिक्षा का माध्यम थी। पैशाची और मागधी में जो साम्य दीख पड़ता है उसके कारण में इसी तथ्य की स्थिति है। इसी आधार पर ग्रियर्सन ने 'पालि' को मागधी बोली का साहित्यिक रूप माना है।

(७) प्रो० रायसडेविड्स के मत से 'पालि' कोसल देश की उस बोली पर आधारित है जो ईसा के छ-सात सौ वर्ष पूर्व वहां बोली जाती थी क्योंकि (क) भगवान् बुद्ध कोसल प्रदेश के रहने वाले थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिए थे, (ख) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोसल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

(८) वेस्टरगार्ड और ई० कुह्न के अनुसार 'पालि' उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी क्योंकि (क) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है और (ख) कुमार महेन्द्र (महिन्द) की जिन्होंने लंका में बौद्धधर्म का प्रचार किया और पालि-त्रिपिटक को वहां पहुंचाया, मातृ-भाषा यही थी।

(९) आर०ओ० फ्रैंक ने पालि-भाषा का उद्गम विन्ध्य-प्रदेश माना है क्योंकि (क) गिरनार-शिलालेख से उसका सबसे अधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए उन्होंने कहा कि पालि उत्तर-भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तरी-पश्चिमी भाग के खरोष्ट्री या खरोष्ठी-लेखों से भी उसकी समानताएं और असमानताएँ दोनों हैं, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी भिन्नता है। उसकी समता अधिकतर मध्य देश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि कुछ असमानताएँ यहां भी हैं।[१] अतः पालि-भाषा का उद्गम स्थान विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग का प्रदेश है।

(१०) ई० मुलर के मत से कलिंग ही पालि का उद्गम-स्थान है क्योंकि सबसे पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म-प्रचार करना यहीं से अधिक

१. Pali and Sankrit, chap. 1, Page 138.

रागत हो सकता है।

(११) लूडर्स के मत से 'प्राचीन अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है। उनका कहना है कि पालि-त्रिपिटक अपने मौलिक रूप में प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि-भाषा में, जो पश्चिमी बोली पर आश्रित थी, किया गया, और आज त्रिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के अवशेष मात्र हैं जो पालि में उसका अनुवाद करते समय रह गये थे।

(१२) सिलवाँ लेवी ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि पालि-त्रिपिटक मौलिक बुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनूदित रूप है जिसमें ध्वनि-परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। ध्वनि-विज्ञान के आधार पर श्री लेवी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि-त्रिपिटक एक ऐसी भाषा में अनूदित किया हुआ है जिसमें अघोष स्पर्शों (क्, त्, प् आदि) का प्राय घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब् आदि) में परिवर्तन हो जाता था जैसे पाराचिक (संस्कृत) से पाराजिक, माकन्दिक (संस्कृत) से मागन्दिय, कचगल (संस्कृत) से कजगल आदि।

(१३) डा० कीथ पालि को कोसल की भाषा नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने के लिए न तो कोई आधार है और न कोसल-भाषा के सम्बन्ध में कोई प्रमाण है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध ने अपने उपदेश किस भाषा में दिये थे। वह भाषा प्रतिनिधि कोसल भाषा भी हो सकती है और मगध की बोली भी। डा० कीथ का कहना है कि इस भाषा के सम्बन्ध में उनका ज्ञान नहीं है। अशोक की राजकीय या प्रतिनिधि भाषा को मागधी नाम नहीं दिया जा सकता, वह अर्द्धमागधी थी, किन्तु यह अर्द्धमागधी या मगध की कोई अन्य बोली पालि नहीं थी। पालि का आधार कोई पश्चिमी बोली थी और अपने साहित्यिक रूप में जो पालि-धर्म ग्रन्थों में मिलता है, वह निश्चित रूप से कोई कृत्रिम मिश्रित भाषा थी जो संस्कृत से प्रभावित होकर तत्पश्चात् अपने बोलचाल के रूप से पृथक् हो गई थी।

(१४) श्रीमती रायस डेविड्स के मत से पालि किसी स्थान की भाषा का नाम नहीं है। पालि का अर्थ पंक्ति है और अम्बपालि नामक वेश्या के नाम पर 'पालि' शब्द प्रचलित हुआ। वे इस मत के विरुद्ध हैं कि पालि मागधी का ही दूसरा नाम है। उनके मतानुसार यह कहना अधिक उपयुक्त है कि पालि में यत्र-तत्र मागधी और

अर्द्धमागधी रूपों की झांकी मिल जाती है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि मागधी और अर्द्धमागधी ही पालि का आधार हैं।

(१५) प्रो० टर्नर का कथन है कि पालि अपने प्राचीनतम ग्रन्थो मे वह भाषा है जो अनेक बोलियो के मिश्रित रूप को व्यक्त करती है, जिसमें कुछ तो उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी बोलियों के तत्त्व हैं और कुछ पूर्वी बोली की विशेषता है। इसका कारण यह हो सकता है कि मूल प्रतिलिपि किसी पूर्वी बोली में हुई हो अथवा पूर्वी बोलियो का कोई सामान्य प्रभाव अन्य भारतीय आर्य भाषाओं पर, विशेषतः मौर्यकाल मे जबकि मौर्य साम्राज्य की राजधानी पूर्व मे थी, पड़ा हो। अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ अशोक के पुत्र महिन्द के द्वारा लंका मे लाये गये थे। महिन्द का बाल्यकाल उज्जयिनी मे व्यतीत हुआ था। लंका मे उसे पालि का अध्ययन और प्रयोग, जो भारत मे मृत हो चुकी थी, बौद्धों ने बड़ी लगन के साथ किया और वहां से बर्मा और स्याम मे इसका प्रचलन हुआ, जहां पर वह अब भी किसी अंश तक साहित्य, या कम से कम धर्म की भाषा के रूप में वर्तमान है[1]।

(१६) डा० विंटरनिज के अनुसार पालि एक साहित्यिक भाषा थी जिसका उपयोग केवल बौद्धो ने किया और जिसका उद्भव अन्य साहित्यिक भाषाओं की भांति अनेक बोलियो से हुआ। वे पालि और मागधी को शब्दशः पर्यायवाची न मानते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से उसका सम्बन्ध मागधी से जोड़ते हैं। साहित्यिक भाषा पालि का विकास और स्थैर्य उस समय हुआ जबकि वह लंका में लिखित रूप में आविर्भूत हुई। साहित्यिक पालि उस समय बोली भी जाती थी और साहित्यिक शिक्षा के माध्यम के रूप मे तक्षशिला विश्वविद्यालय मे प्रयुक्त होती थी। यह शिक्षित बौद्धों की भाषा थी और साहित्यिक व्यवहार मे मार्जित रूप में भी संभवतः प्रयुक्त होती थी।[2]

(१७) डा० सुनीतिकुमार चटर्जी अपने मत की पुष्टि के लिए प्रसिद्ध विद्वान् सिलवाँ लेवी और लूडर्स के मत का सहारा लेते हुए कहते हैं कि 'बुद्ध के प्रवचन पहले-पहल किसी पूर्वी बोली मे लिखे गये थे और बाद मे वे पालि में अनूदित कर लिए गये जो मध्य प्रदेश की प्राचीन भाषा पर आधारित थी। जैनों ने बाद मे इस

---

१. पालि भाषा और साहित्य : विश्वकोष, १४वां संस्करण, ग्रन्थ १७

२. देखिये, भाण्डारकर, स्मृतिग्रन्थ, १९१७-दी होम आफ लिटरेरी पालि

पूर्वी बोली को परिवर्तित कर दिया, किन्तु अधिकांशतः आधार वही बोली रही। उनके धर्म-ग्रन्थों में इस भाषा को अर्द्धमागधी नाम दिया गया है। मूल पूर्वी बोली से बौद्ध-धर्म ग्रंथों का अनुवाद जिन प्राचीन भारतीय आर्य बोलियों में किया गया, उनमें से एक 'पालि' भी थी। भ्रमवश इसको मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन भाषा समझ लिया गया है। वास्तव में यह एक साहित्यिक भाषा थी जो उज्जैन से मथुरा तक फैले हुए मध्य देश की बोलियों पर आधारित थी। यह पश्चिमी हिंदी की पूर्वजा थी।[1]

(१८) गायगर नामक जर्मन विद्वान का मत उपर्युक्त सभी मतों से अधिक परिपूर्ण और ग्राह्य है। इसके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमें भगवान बुद्ध ने उपदेश दिये थे। यह भाषा किसी जनपद विशेष की बोली नहीं थी बल्कि सभ्य समाज में बोली जाने वाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बुद्ध-पूर्व-युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा में स्वभावतः ही अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान थे। यद्यपि भगवान बुद्ध मगध प्रदेश के नहीं थे, किन्तु उनका जीवन कार्य अधिकांशतः वहीं सम्पन्न हुआ था, अतः उनकी भाषा पर मगध की बोली की छाप अवश्य पड़ी होगी। उसे विशुद्ध मागधी भले ही न कहा जाये, फिर भी वह मागधी पर आश्रित एक लोकभाषा थी। वही पालि कहलायी।

मतों का वर्गीकरण

उक्त मतों को ६ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है प्रथम वर्ग में (संख्या की दृष्टि से) वे मत आते हैं जो पालि का सम्बन्ध मागधी से जोड़ते हैं। मत नं० १, २, ३, ६, १४ और १६ इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं। दूसरा प्रमुख वर्ग उन मतों को लेकर बना है, जो पालि को पूर्वी बोली के अनुवाद की वह साहित्यिक भाषा मानते हैं जो मध्य देश की बोलियों पर आधारित थी और जो पश्चिमी हिंदी की पूर्वजा थी। इस वर्ग में मत नं० ११, १२, १३, १५ और १७ को सम्मिलित कर सकते हैं। तीसरे वर्ग के मत नं० ४ और १० के अनुसार पालि कलिंग देश की भाषा थी और चौथे वर्ग के मत नं० ५ और ६ के अनुसार वह विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा थी। पांचवें और छठे वर्ग में क्रमशः मत नं० ७ और ८ रखे गये हैं। इनमें से पहले

[1] देखिये, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी : इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी, लेक्चर II, भाग I

के अनुसार पालि कोसल देश की बोली पर आधारित थी और दूसरे के अनुसार वह उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी।

इन मतों को प्रस्तुत करने के पश्चात् इनकी समीक्षा करना भी आवश्यक हो जाता है। विवेचन की सुविधा के लिए इस समीक्षा में वर्ग क्रम ६, ५, ४, ३, १ और २ रहेगा।

आलोचना

वर्ग ६ का मत एकांगदर्शी है। इसके अनुसार उज्जयिनी की भाषा पालि भाषा थी। इसके लिए कोई विशेष प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। गिरनार का शिला लेख इस प्रदेश की किसी भाषा को प्रमाणित नहीं करता क्योंकि उस समय यहाँ पश्चिमी हिन्दी की पूर्वजा का ही कोई रूप रहा होगा। यह मत अधिक से अधिक पालि भाषा के मिश्रित रूप को जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के लिए सर्वथा अनिवार्य है, व्यंजित करता है। इसके अतिरिक्त, राजकुमार महिन्द के साथ लंका में यही भाषा पहुंची इसकी सिद्धि ऐतिहासिक प्रमाणों की प्रतीक्षा कर रही है।

५वें वर्ग में प्रो० रायस डेविड्स का मत आता है। इस मत के अनुसार पालि कोसल देश की उस बोली पर आधारित है, जो ईसा के छः--सात सौ वर्ष पूर्व वहां बोली जाती थी, क्योंकि भगवान बुद्ध कोसल प्रदेश के रहने वाले थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये। इस मत में अनुमान के लिए विशेष स्थान दिया गया है। इसमें यह तथ्य हो सकता है कि भगवान बुद्ध की जन्म भूमि कोसल थी, अतएव उनके उपदेशों की भाषा पर कोसल की भाषा का प्रभाव रहा हो, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये थे, क्योंकि मगध में वे बहुत घूमे-फिरे थे और बनारस से भी उनका बहुत सम्बन्ध रहा था। अपने बनारस के शिष्यों को उन्होंने कोसल की भाषा में उपदेश दिये होंगे, इसमें कुछ अधिक सार नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त यह मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि कोसल देश की वह वाणी ही पालि है। "यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व की कोसल प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोक कालीन मगध शासन की राष्ट्रभाषा कोसल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोसल राज्य के मगध में

सम्मिलित हो जाने के बाद मगध साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो मगध की भाषा को ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव मिला, यही मानना अधिक युक्ति सगत है।" हाँ, चारो ओर की जनपद बोलियो को भी, जिनमे एक प्रधान कोसल-प्रदेश की बोली भी थी, उसमे उचित स्थान मिला। एक सार्वदेशिक टकसाली राष्ट्रभाषा के निर्माण मे प्रादेशिक बोलियो का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। इसलिए यह मानना अनुचित नही कि कोसल प्रदेश की बोली भी राष्ट्र भाषा मागधी मे लीन हो गयी थी। सच तो यह है कि प्रो० रायस डेविड्स के इस मत का कोई आधार नही है। डा० विटरनित्ज इस मत को इस आधार पर अस्वीकार करते हैं कि छठी और सातवी ईसवी पूर्व की कोसल प्रदेश की वाणी की जानकारी का आज हमारे सामने कोई आधार नही है, अतएव यह नही कहा जा सकता कि पालि का मूल रूप उसी मे निहित है।

चौथे वर्ग मे डा० स्टनकोनो और आर० ओ० फ्रक के मत आते हैं, जिसके अनुसार पालि विन्ध्याचल की भाषा थी। उन्हे पालि और पैशाची प्राकृत मे बहुत समता प्रतीत होती है और इसका कारण वे पालि भाषा को पैशाची की पडोसिन होने म खोजते हैं। उनकी दृष्टि मे विन्ध्याचल के उत्तरवर्ती प्रदेश म उज्जयिनी के आसपास पैशाची बोली जाती थी। इस मत के विरोध म डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि यह ठीक होते हुए भी कि पालि और पैशाची म बहुत साम्य है यह गलत है कि पैशाची विन्ध्याचल प्रदेश के उत्तर म बोली जाती थी। वह तो कैकेय और पूर्वी गान्धार की बोली थी और बुद्ध के समय कैकेय देश, विशेषत तक्षशिला विद्या के लिए प्रसिद्ध था। उन दिनो मागधी का भारत म बहुत सम्मान था और वह तक्षशिला मे भी शिक्षा का माध्यम थी। पैशाची और मागधी मे साम्य का यही कारण है।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत आते हैं जो कल्पना-कलित दीख पडते है। खडगिरि के शिलालेख के साक्ष्य पर पालि का जन्म स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धान्त है जितना गिरिनार के शिलालेख के आधार पर उसे उज्जयिनी प्रदेश की बोली ठहराना। प्रान्तीय भेदो से उत्पन्न पालि के मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतो का अन्य कोई महत्व

---

[१] पालि साहित्य का इतिहास भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ १८

नहीं हो सकता। अपने मत की स्थापना के लिए ओल्डनबर्ग ने तो महेन्द्र द्वारा लंका में किये हुए धर्म-प्रचार को, जो अन्यथा सब प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों में सिद्ध है, अनैतिहासिक माना है।

इन मतों के पीछे कोई दृढ़ प्रामाणिक भूमिका न होने से इनको सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अब हमारे सामने प्रथम और द्वितीय वर्ग के मत रह जाते हैं। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत आने वाले विद्वान किसी न किसी रूप में पालि को मागधी से संबंधित करते हैं। इनमें ग्रियर्सन, गायगर और विंटरनित्ज के मत भी सम्मिलित हैं। वे पालि को साहित्यिक भाषा कहते हैं। ग्रियर्सन पैशाची से प्रभावित मागधी को साहित्यिक रूप में पालि कहते हैं। गायगर पालि का आधार मागधी मानते है, चाहे वह विशुद्ध मागधी भले ही न हो और विंटरनित्ज का कथन है कि पालि बौद्धों की साहित्यिक भाषा थी जिसका आविर्भाव अनेक बोलियों के मिश्रण से हुआ। यद्यपि इन्होंने पालि को मागधी का पर्यायवाची नहीं कहा, फिर भी मागधी से उसका ऐतिहासिक सम्बन्ध अवश्य जोड़ा है। इस वर्ग के मतों को देखकर हमारे सामने तीन प्रश्न आते हैं—(१) क्या पालि साहित्यिक भाषा है? (२) क्या वह केवल बौद्धों की साहित्यिक भाषा है? (३) क्या उसका आधार मागधी है?

उक्त प्रश्नों का तुलनात्मक अध्ययन करने और किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि प्रथम वर्ग को भी सामने रख लिया जाये। इस वर्ग के प्रायः सभी विद्वानों ने पालि को उस भाषा के रूप में स्वीकार किया है जिसमें मूल बौद्ध वचनों का अनुवाद हुआ। मूल बौद्धवाणी का संग्रह इस वर्ग के मतों के अनुसार अर्द्धमागधी या मागधी में हुआ। उसके अनुवाद की भाषा जिसमें त्रिपिटक सुरक्षित हैं, पालि है। इन मतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—(१) पालि किसी पूर्व बोली में किये हुए मूल बौद्ध ग्रंथों की अनुवाद की भाषा है, (२) मूल बौद्ध ग्रंथ मागधी या अर्द्धमागधी में थे, (३) पालि का प्राचीनतम रूप अनेक बोलियों के मिश्रण से बना, (४) पालि साहित्यिक भाषा थी (५) मध्य देश की बोलियाँ पालि का मूलाधार थीं।

इन निष्कर्षों से भी तीन प्रश्न मिलते हैं—(१) क्या पालि साहित्यिक भाषा थी? (२) क्या वह बौद्धों की साहित्यिक भाषा थी? (३) क्या वह मध्यदेश की वाणी पर आधारित थी?

इन सब बातो के पश्चात् हमारे सामने एक समस्या रह जाती है और वह यह कि पालि मगध की भाषा थी अथवा मध्य देश की। बुद्ध के उपदेशों की भाषा क्या थी ? इस प्रश्न का हमारे पास कोई उत्तर नही है। कोसल की बोली हो सकती है क्योंकि वह उनकी मातृ-वाणी थी, मगध की भाषा हो सकती है क्योंकि मगध से बुद्ध का अधिक सबध रहा था और वह कोई ऐसी मिश्रित वाणी भी हो सकती है जो सर्वबोधगम्य हो। प्राचीन धर्मों के सबध मे प्राय यह देखा गया है कि उपदिष्ट लोग प्रवर्तक के मूल वचनो को सुरक्षित रखने का यथासाध्य प्रयत्न करते थे। इस दृष्टि से बौद्ध भिक्षुओ ने भी भगवान् बुद्ध के आप्त वाक्यो को यथावत् सुरक्षित रखने की चेष्टा की होगी।

बुद्ध के शिष्यो मे अनेक प्रदेशो के निवासी सम्मिलित थे और बडी सावधानी रखने पर भी प्रादेशिक उच्चारण भेद से, जैसाकि हम वैदिक वाणी तक मे देखते हैं, बुद्धवाणी का विकृत हो जाना अस्वाभाविक नही था। जिस धर्म की शरण मे शास्ता ने भिक्षुओ को छोडा था, उसका अस्तित्व अन्तत उनके वचनो पर निर्भर था। उससे उन भिक्षुओ और अर्हतो का निर्वाह तो हो सकता था जिनको स्वय शास्ता से सुनने का अवसर मिला था, किन्तु समस्या तो बाद की धर्मावस्था और पीढियो की थी। उस प्रकाश को एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचाने और सुरक्षित रखने का प्रश्न बहुत गभीर था। भिक्षु-सघ तक में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् असयम और धार्मिक विकृति के लक्षण दिखायी देने लगे थे। राजगृह मे जो प्रथम सगीति हुई उसका कारण केवल शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करना ही नही था, अपितु उनके वचनो को एक रूप मे सुरक्षित रखने के लिए उनका सगायन करना भी उसका एक लक्ष्य था। उस सभा के सभापति आर्य महाकश्यप के ये वचन बडे महत्वपूर्ण हैं।[1] 'आयुष्मानो, आज हमारे सामने अधर्म बढ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अविनय बढ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो ! हम धर्म और विनय का सगायन करें'।[2]

प्रथम सगीति के वर्णन मे केवल धर्म्म (सुत्त) और विनय के सगायन की ही बात कही गई है, अभिधम्म के सगायन की बात वहाँ नहीं है। इससे यह प्रतीत

१ पालि-साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ट ७७

२ पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द मय आवुसो धम्म न विनय च सगायाम। (विनयपिटक—चुल्लवग्ग)

होता है कि 'अभिधम्म पिटक' की रचना प्रथम संगीति से बाद के काल की है। बौद्ध-परंपरा इस निष्कर्ष को नहीं मानती और आचार्य 'बुद्ध घोष' ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संगायन का उल्लेख किया है। यूआन्-चुआङ् को भी यही बात मान्य थी। इन दोनों के साथ हम उस सीमा तक सहमत हों या न हों, किन्तु एक बड़ी समस्या का हल मिल जाता है और वह यह है कि बुद्ध-वचनों का जो स्वरूप राजगृह की सभा में स्वीकार और संग्रह किया गया उसी पर वर्तमान पालि त्रिपिटक आधारित है। अत. यह कह देना अनुचित नहीं कि धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया उसके ही दर्शन हमें पालि सुत्त और विनय-पिटकों में मिलते हैं, यद्यपि उनके साथ कुछ और भी मिल गया है।[२]

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद, कुछ लोगों[३] के मत से १०० वर्ष बाद वैशाली में 'धम्म' और 'विनय' का, जैसाकि वह प्रथम संगीति में संगृहीत किया गया था, पुन संगायन किया गया। इसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। वैशाली के भिक्षु दस बातों में विनय-विपरीत आचरण करने लगे थे, उसके निर्णय के लिए इस सभा का आयोजन किया गया था। यह सभा आठ मास तक चलती रही। इसमें एक बात का निश्चय हो जाता है कि इस समय तक भिक्षु-संघ के पास एक ऐसा सुनिश्चित संगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर वे विवादग्रस्त प्रश्नों का निपटारा कर सकते थे, चाहे वह मौखिक परंपरा के रूप में ही क्यों न हो। इससे एक निष्कर्ष और निकलता है कि वैशाली की सभा के परिणामस्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ न कुछ संशोधन या परिवर्धन अवश्य किया गया होगा।

वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति सम्राट् अशोक के समय में बुद्ध के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। यद्यपि इसका उल्लेख किसी अशोक-शिलालेख में नहीं मिलता, किन्तु दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका में इसका वर्णन मिलता है। इस संगीति के समय तक सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से हो गया था और इस सभा के परिणामस्वरूप विदेशों में

---

१. देखिये सुमंगल वासिनी की निदान-कथा
२. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २२१
३. युआन् चुआङ् के मत से ११० वर्ष बाद

बौद्ध धर्म के प्रचारके लिए उपदेशको को भेजने का महत्त्वपूर्ण निश्चय किया गया। यह अनुमान करना असंगत नही कि इस समय तक धर्म-विषयक अनेक प्रश्न उत्तर रूप मे प्रस्तुत हो गये थे और धर्म से विदेशो मे भेजने की क्षमता समझी जाने लगी थी।

महेन्द्र और उनके अन्य साथी बुद्ध-धर्म को लंका मे ले गये। उसी समय वे उस त्रिपिटक को भी साथ ले गये जिसके स्वरूप का अन्तिम निर्णय पाटलिपुत्र की संगीति मे हो चुका था। लंका के राजा देवानंपिय तिस्स ने भारतीय भिक्षुओ का बड़ा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। वहाँ महाविहार की स्थापना हुई और त्रिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा जो कुछ शताब्दियो तक मौखिक परंपरा मे ही चला। बाद मे लंका के राजा वट्टगामणि अभय के समय मे प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व, जिस त्रिपिटक को महेन्द्र और उनके साथी अशोक और देवानंपिय तिस्स के समय वहाँ ले गये थे, लेख बद्ध[1] कर दिया गया।

निष्कर्ष

इस इतिहास के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तृतीय संगीति तक त्रिपिटको मे पर्याप्त संशोधन हो चुका था। वह शब्दों और वाक्यो से संबंधित भी हो सकता है और केवल अर्थ से संबंधित भी किन्तु यह बहुत कम संभावना है कि बौद्धवाणी को आमूलचूल बदल दिया गया हो, क्योकि इसमे धार्मिक श्रद्धा व्याहत होती थी। हाँ, तीसरी संगीति तक भाषा मे विकास की गति स्पष्ट हो गयी थी। भाषा वैज्ञानिक[2] भी इस बात को स्वीकार करते हैं। अट्ठकथाओ की भाषा से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि के प्राचीन और अपेक्षाकृत अर्वाचीन रूप मे बहुत अन्तर है।

इससे कदाचित् यह कहना अनुचित नही कि पालि का जन्म बुद्ध-वचनों मे हुआ। बुद्ध के सामने "छान्दस् भाषा का विरोध और लोकवाणी का पक्ष था। लोकवाणी मे भी उनके सामने अपनी भाषा का प्रश्न इतना प्रखर नही होगा जितना शिष्यों की सुबोधता का। कोसल मे उत्पन्न होनेवाले, अधिकांशत मगध

---

१ विनय पिटक का बुद्धघोष रचित अट्ठकथा

२- देखिये, दीपवंस २० । २०-२१ (ओल्डेनबर्ग का संस्करण), महावंस ३३ । १००-१०१ (गायगर का संस्करण), देखिये महावंश, पृ० १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

में रहनेवाले और अन्य प्रदेशों में घूमनेवाले उन महात्मा बुद्ध के प्रवचनों पर मातृभाषा, शिक्षा की भाषा और भ्रमणार्जित शब्दावली के अतिरिक्त धर्मप्रचार और प्रसार के दृष्टिकोण का भी प्रभाव रहा होगा। उन्होंने अवश्य ही अपने प्रवचनों में ऐसी वाणी का प्रयोग किया होगा जिसको वे न केवल स्वयं जानते और बोल सकते ही थे अपितु उनके शिष्य एवं श्रोताजन भी समझ सकते थे। वह अवश्य ही कोई ऐसी भाषा होगी जो उस समय देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती थी। वह मध्य देश की भाषा के अतिरिक्त सम्भवतः कोई दूसरी भाषा नहीं हो सकती क्योंकि उत्तरी भारत की भाषाओं के इतिहास में प्रायः पश्चिम और मध्यदेश की भाषा का प्रभुत्व ही शेष देश पर रहा।[१] उसको बुद्ध प्रवचनों की भाषा मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर पूर्वी भाषा का प्रभाव नहीं आया। पूर्वी भाषा को भुलाकर महात्मा बुद्ध और उनके अधिकांश शिष्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतएव बुद्ध के प्रवचनों का आधार वह प्रचलित मध्यदेशीय भाषा थी, जिस पर पास पड़ोस की अन्य बोलियों और विशेषतः पूर्वी बोली का जिसे हम प्राचीन मागधी कह सकते हैं, प्रभाव भी था। यही भाषा विकास के अनेक स्तरों में गुजरती हुई अट्ठकथा की भाषा के रूप में प्रकट हुई। इसी को बाद में पालि नाम मिला। यह बौद्धों की साहित्यिक भाषा थी जो भारत से बौद्धधर्म के विलीन होने की दशा में भी अन्य देशों में, विशेषतः लंका में, धार्मिक भाषा के रूप में सुरक्षित रही।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी जैसे भारतीय विद्वानों और सिल्वा लेवी जैसे पश्चिमी विद्वानों को पालि में किसी प्राचीन पूर्वी बोली के अनुवाद की प्रतीति हुई है। उन्होंने यह देखकर कि बुद्ध के उपदेश बौद्ध भिक्षुओं और अर्हतों ने अपनी अपनी बोली या भाषा में सगृहीत किए होंगे और बाद में इनको अनुवाद के रूप में एकरूपता दे दी, इससे बुद्ध के उस आदेश की सिद्धि तो हो जाती है जो उन्होंने अपने शिष्यों को अपनी सुकरता के अनुसार अपनी-अपनी भाषा में अपने उपदेशों के प्रचार के निमित्त दिया था, किन्तु बुद्ध के कुछ शिष्य तो ऐसे भी रहे होंगे जिन्होंने उनकी वाणी को उन्हीं के शब्दों में संगृहीत किया होगा और यह संग्रह न केवल सर्वाधिक प्रामाणिक था, अपितु धार्मिक श्रद्धा की भावना का पूर्णतः रक्षक भी

१. देखिये, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, इंडोआर्यन एण्ड हिन्दी, लेक्चर, पृ० १६१-६२

था, अतएव अनुवाद की बात अधिक जँचनेवाली नहीं है। हाँ, अनेक संग्रहों में एक-रूपता लाने के लिए तथा कुछ विवादों के समाधान के लिए संगीत-सभाओं में बुद्ध वचनों के मौलिक एवं प्रामाणिक संग्रहों को आधार बनाया गया होगा और धर्म में उन्हीं की प्रतिष्ठा की गई होगी। सम्राट् अशोक ने लंका में राजकुमार महेन्द्र के साथ बुद्धवाणी को भेजा था, वह अवश्य ही मौखिक वाणी थी। उसी की वहाँ प्रतिष्ठा हुई।[1]

इस प्रकार पालि के मूल स्थान के सम्बन्ध में हमारे सामने अनेक मत आते हैं, किन्तु किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। यह मालूम करने के लिए कि बुद्ध ने किस भाषा में उपदेश दिए, सब प्रयत्न व्यर्थ गये। हमारा ऐसा मत है कि पालि का आधार भारतीय प्राकृत भाषाओं का कोई पश्चिमी रूप रहा होगा—विशेषतः वह रूप रहा होगा जो गिरनार की चट्टान पर खुदे हुए लेख की भाषा से मिलता था और किसी सीमा तक उस प्राकृत में मिलता है जिसे वैयाकरण शौरसेनी प्राकृत कहते हैं। पालि धर्म-ग्रंथों की परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि मागधी से पृथक् है। मागधी के जो उदाहरण पालि ग्रंथों में दिए जाते हैं—जैसे 'सुकटे-दुक्कटे', जीवसन्त में अथवा 'भवन्तो', 'भवत विधा' आदि—उनसे पालि के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। अपवाद स्वरूप कुछ रूप तर्क की पुष्टि नहीं करते कि पालि पर मागधी का प्रभाव है। पालि के मूल स्थान के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम न केवल मागधी के कुछ उदाहरणों की ही उपेक्षा कर दें अपितु प्राकृत और वैदिक कुछ शब्द रूपों को जो गाथाओं में आ गए, भुला दें। जैसे वड्ढ (वृद्ध) नेतवे (नेतु) पहातवे (प्रहातु) आदि।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति

पालि शब्द संस्कृत में पंक्ति अर्थ में बहुत प्रयुक्त हुआ दीख पड़ता है। अब भी पण्डित-मण्डलियों और सत्संग प्रवचनों में हम अनेक वाक्य सुनने को मिलते हैं जो इसी अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, जैसे 'तात्पर्यार्थ तो ग्रहण कर लिया गया, किन्तु पंक्ति मात्र भी हृदयंगम नहीं हुई', 'यदि परीक्षा में सफलता पानी है तो पंक्तियों पर विशेष ध्यान दो' आदि। इस प्रकार का प्रयोग हम लोगों में आज ही

१ ... साहित्य, विनयपिटक, १४ वाँ संस्करण, पृष्ठ १०

अवतीर्ण नहीं हो गया है, अपितु पूर्वाचार्यों के लेखों में भी वह देखने को मिलता है। अभिधानप्पदीपिका में भी पालि शब्द पंक्ति के अर्थ को प्रकट करता है—

'पंति वीथ्यावलिस्सेनि पालि रेखा च राजि च।'

जिस प्रकार संस्कृत में पंक्ति शब्द का प्रयोग 'मूलग्रंथ' के अर्थ में होता है उसी प्रकार उसी अर्थ में 'पालि' शब्द बौद्धों के ग्रंथों में हुआ दीख पड़ता है, जैसे महावंस में बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' को लक्ष्य करके कहा गया है—'थेरियाचरिये सब्बे पालिविय तमग्गहुं (स्थविरा आचार्याः सर्वे पालिमिव तामग्रहीषुः)' और जैसे सासनवंस (शासन वंश) में जम्बुद्दीपे पन पालिमत्तमेव अत्थि, अट्ठकथा पन नत्थि (जम्बुद्वीपे पुनः पालिमात्रेवास्ति अर्थकथा पुनर्नास्ति)। इस विमर्श से यह व्यक्त हो जाता है कि 'पालि' शब्द पहले 'मूलग्रंथ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। इसके अनन्तर मूलग्रंथ से सम्बद्ध अन्य ग्रंथों का भी 'पालि' शब्द से बोध होने लगा। बौद्धों के मूलग्रंथ त्रिपिटक है, अर्थकथा (अट्ठकथा) उनसे सम्बन्धित रचना है। अतएव 'अट्ठकथा' अथवा उस परम्परा में आनेवाले ग्रंथों का बोध भी 'पालि' शब्द से होने लगा, किन्तु जो त्रिपिटकों और तदनुबद्ध ग्रंथों से भिन्न थे वे उस समय ही 'पालि'—शब्द-वाच्यता को न पा सके। सासनवंस (शासनवंश) के इन शब्दों से यह बात प्रमाणित हो जाती है—एते पालिमुत्तकवसेन वुत्ता गन्थन्तरानि वुच्चन्ति (एते—महावंशप्रभृतय., पालिमुक्तवशेन वियुक्ता ग्रन्थान्तराणीत्युच्यन्ते)।

कहा जाता है 'केवल पालि को लंका से यहाँ लाया गया, अट्ठकथाओं को नहीं।'[1] अट्ठकथाओं में कितने ही अनुच्छेद ऐसे हैं जिनमें पालि शब्द का प्रयोग मूल (आधार) धर्मग्रन्थों के लिए किया गया है। वास्तव में बुद्धघोष की टीकाओं में (इनसे पूर्व के बौद्ध-ग्रन्थों में नहीं) पालि शब्द का प्रयोग खोजा जा सकता है। अट्ठकथाओं में ही पालि शब्द का प्रयोग 'बुद्धवचन', त्रिपिटक, तंति और परियत्ति के (परियाय के) रूप में होने लगा। यद्यपि टीकाकारों ने पालि शब्द को भाषा के अर्थ से विमुक्त रखने के सतर्क प्रयत्न किये, किन्तु पालि या मूलधर्म ग्रन्थों को सिंहल-भाषा से भिन्न दिखाने के लिए 'तंतिभासा' जैसे शब्दों का प्रयोग करने के लिए विवश होना पड़ा। वे लोग पालि की भाषा को मागध निरुत्ति (मागधी मुहावरा) कहते थे। कालक्रम से तंतिभासा ने ही 'पालिभासा' नाम ग्रहण कर

१. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध

लिया और मागधी या मागधि निरुक्ति का उन्होंने स्तुति-शब्द के रूप में प्रयोग किया जिसका तात्पर्य ग्रहण करते हुए उन्होंने कहा कि पालिधर्म-ग्रन्थों का मागधी मुहावरा ही मूल भाषा या सकल जन-साधारण की भाषा थी।

इस प्रकार 'पालि' शब्द मूल ग्रन्थ का वाचक था, यह स्पष्ट है। समय-क्रम से यह शब्द उस भाषा का ही बोध कराने लगा जिसमें मूल ग्रन्थ लिखे गये थे। 'पालि' ने मूल ग्रन्थ का अर्थ ग्रहण किया और पालि भाषा ने उसकी भाषा का अर्थ-द्योतन प्रारंभ कर दिया। फिर भाषा शब्द के योग के बिना भी 'पालि' शब्द भाषा का वाचक बन गया।

'पालि भाषा' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आधुनिक है। इस प्रयोग का श्रेय योरप के संस्कृतज्ञों को है या लंका, बर्मा और स्याम के थेर बौद्धों को? यह प्रश्न अभी तक विवाद ग्रस्त है, किन्तु यह निश्चित है कि छठी या सातवीं शताब्दी तक 'पालि' शब्द का प्रयोग किसी भाषा के लिए नहीं हुआ था। यदि हम महावंश के बाद के 'चूळवंश' पर दृक्पात करें तो पालि शब्द का प्रयोग स्पष्टतः मूल ग्रन्थों के लिए हुआ है जो अट्ठकथाओं से भिन्न है।

जब 'पालि' शब्द भाषा विशेष का द्योतक बन गया तो शनैः-शनैः इसका मूल अर्थ उससे छूट गया। जो कुछ भी पालि भाषा में लिखा गया वह सब पालि शब्द से सूचित किया जाने लगा, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि पालि शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग करने की प्रवृत्ति कब उत्पन्न हुई। चाइल्डर्स महोदय के मत से इसका समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी है। किन्तु इसके उदाहरण बुद्धघोष के पश्चात् लिखे गये ग्रन्थों से भी बहुत उपलब्ध होते हैं। बुद्धघोष पाँचवीं शताब्दी में हुए थे, यह विद्वानों का मत है। अतः सम्भावना है कि इसके बाद ही बौद्धों ने अपने ग्रंथों की भाषा को 'पालि' शब्द से पुकारना आरम्भ किया था।

'पालि' शब्द के समान 'तन्ति' शब्द का प्रयोग भी मूल ग्रंथ के अर्थ में बुद्ध-वचनों में बहुत हुआ है। दोनों शब्दों का अर्थ पंक्ति होना है। दोनों का उसी प्रकार प्रयोग भी हुआ है, किन्तु 'पालि' शब्द ही भाषा का वाचक बना। यह कैसे हुआ, इसका इस समय निर्णय नहीं किया जा सकता कदाचित् इसका प्रधान कारण वक्ताओं की प्रवृत्ति रही हो।

मूल ग्रंथों का अर्थ देनेवाले 'पालि' शब्द ने भाषा का अर्थ कहाँ से पा लिया? यह प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है। यह अनुमान किया जा सकता है कि कालान्तर

में बौद्ध-वचनों के विस्मरण की ओर चलने पर उनके रक्षण-कार्य के प्रति यथावत् जागरूक बौद्धों ने जिस प्रकार उनके अर्थ के प्रति उसी प्रकार शब्द के प्रति भी ध्यान दिया। बौद्ध विद्वानों के मन में शब्द और अर्थ दोनों के समान सम्मान के कारण यह कोई आश्चर्य नहीं कि उन दोनों में से एक ही ने वाचकता प्राप्त करली हो। कुछ भी हो, कैसे ही हुआ हो, हमें यह बात निर्विवाद प्रतीत होती है कि 'पालि' शब्द मूल ग्रंथ का अर्थ देते हुए भी कालक्रम से उसकी भाषा का अर्थ देने लगा।

यदि यह सिद्ध कर दिया जाता है कि 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध घोष की रचनाओं से पहले का नहीं है और जब इसका प्रथम प्रयोग मूल धर्म-ग्रंथों के अर्थ में हुआ तो भाषा विषयक अर्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था तब ध्वनि-साम्य के आधार पर पल्लि (गाँव) में पालि की आधुनिक गवेषणा व्यर्थ हो जाती है। 'पालि' को बुद्ध-वचन या धर्म-ग्रन्थों के अर्थ में ग्रहण करने पर उससे भाषा का प्रश्न ही दूर हो जाता है।

पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों ने 'पालि' शब्द की निरुक्ति में अप्रतिम प्रतिभा प्रदर्शित की है। कोई पाटलिपुत्र के 'पाटलि' शब्द से 'पालि' को व्युत्पन्न मानते हैं तो दूसरे 'पल्लि' से पालि शब्द की उत्पत्ति मानते हैं तथा अन्य मगध के प्राचीन अभिधान 'पलाश' से पालि शब्द का अवतार समझते हैं।' 'पलेष्टाइन' इत्यादि शब्दों से भी पालि शब्द का सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। पालि-वैयाकरणों ने 'सद्दत्थं पालेतीति पालि' कहा है। वैयाकरणों का यह मत चाहे कल्पना-प्रसून ही हो, इसे सर्वथा असंगत नहीं ठहराया जा सकता।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के अर्थ में 'पालि' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत बाद का है। इसका सबसे पहला प्रयोग आचार्य बुद्धघोष (ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से युक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है : (१) बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में, (२) 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में। 'मूल त्रिपिटक' के पाठ में नाम-मात्र का भेद होने से यह कहा जा सकता है कि 'मूल त्रिपिटक' या 'बुद्धवचन' के सामान्य अर्थ में ही बुद्धघोष ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण अट्ठकथा (प्राचीन अर्थ-कथा) से विभिन्नता दिखाने के लिए मूल त्रिपिटक के किसी अंश को उद्धृत करना

पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे, 'विसुद्धिमग्ग' में "इमानि ताव पालिय, अट्ठकथाय न ..." (ये तो पालि में है, किन्तु अट्ठकथा में तो ·····)। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्हें त्रिपिटक की व्याख्या करते हुए कहीं-कहीं उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'इति पिपालि' (ऐसा भी पाठ है) कहकर पालि शब्द से "मूल त्रिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है।"[1]

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखे गये "दीपवंश" ग्रन्थ में भी जो ईसा की चौथी शती की रचना है, "पालि" शब्द का प्रयोग बुद्धवचन के अर्थ में ही किया गया है। आचार्य बुद्ध घोष के बाद में भी सिंहल देश में "पालि" शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में होता रहा। आचार्य धम्मपाल (५वीं-छठी शती इस्वी) ने भी पालि शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक के "पाठ" के अर्थ में ही किया है, यथा, यथाचितो ततागच्छीति—आगतो ति पिपालि। इसी प्रकार वहाँ बुद्ध-वचन में अर्थ में भी "पालि" शब्द का प्रयोग मिलता है।

'महावंश' (ईसा की छठी शताब्दी) के उत्तरकालीन परिवर्द्धित अंश 'चूल-वंस' (ई० तेरहवीं शती) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अट्ठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि त्रिपिटक के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य यह है—"पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध" (यहाँ केवल पालि ही लायी गयी है, अट्ठकथा यहाँ नहीं है।) इसी प्रकार 'पालि महाभिधम्मस्स' अर्थात् मूल त्रिपिटक के अन्तर्गत अभिधम्म का ऐसा भी प्रयोग वहीं मिलता है। उसी के समकालिक 'सद्धम्मसंगह' (तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी) में भी पालि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण में बड़े महत्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, ये उसका दिग्दर्शन करते हैं। अब उनसे हमें एक आधार मिलता है जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। 'पालि' शब्द त्रिपिटक में तो मिलता नहीं है और बुद्धघोष की रचनाओं या 'दीपवंस' के समय से पूर्व त्रिपिटक को आधार

१. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १—२

मानकर लिखे गये किसी ग्रन्थ में पालि शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय लेकर उपर्युक्त अर्थों में पालि शब्द का प्रयोग किया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। दूसरे शब्दों में, 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार करना है।

प्रमुख मान्यताएँ

'पालि' शब्द के सम्बन्ध में तीन प्रमुख मान्यताएं हैं : एक तो यह कि 'पालि' शब्द 'परियाय' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है, दूसरा मत यह है कि यह 'पाठ' शब्द से व्युत्पन्न हुआ और तीसरा मत 'पालि' शब्द को संस्कृत शब्द मानकर उसे पंक्ति के अर्थ से सम्बन्धित करके फिर अर्थ-परिवर्तन के क्रम की विवेचना करता है।

पहले मत के अनुसार पालि शब्द का प्राचीनतम रूप हमें 'परियाय' शब्द में मिलता है। त्रिपिटक में 'परियाय' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है, कहीं 'धम्म' शब्द के साथ और कहीं अकेला भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसे स्थलों पर 'परियाय' शब्द का अर्थ 'बुद्धोपदेश' है, जैसे, "भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो" (भगवान ने अनेक परियायों—उपदेशों से धर्म को प्रकाशित किया)। बाद में इसी 'परियाय' शब्द का विकृत रूप 'पलियाय' होगया। अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। मगध के भिक्षु-संघ को कुछ चुने हुए बुद्ध वचनों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी धर्मराजा ने कहा—[1] इमानि भन्ते धम्मपलियायानि...सुनयुच उपधालेयेयुच... (भन्ते ये धम्म पलियाय हैं—इन्हें सुनें और पालन करें)...बाद में पलियाय शब्द का पालियाय बन गया और कालक्रम से पालियाय अपने संक्षिप्त पालिरूप में 'बुद्धवचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इसकी प्रतिष्ठा भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालिमहाव्याकरण' की वस्तुकथा में की है।

दूसरा मत भिक्षु सिद्धार्थ का है। इस मत से 'पालि' या ठीक कहें तो 'पालि शब्द' संस्कृत के पाठ शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। पाठ शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषतः वेद-वाक्यों के "पाठ" के लिए किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय से भी यह परंपरा ब्राह्मणों में चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त

---

१. देखिये, पालि-साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय पृ० ४

करते थे, अब "बुद्ध वचनों" के लिए प्रयुक्त किया। बौद्ध परम्परा में जिस प्रकार अनेक प्रतिष्ठित शब्दों ने अपना रूप बदल दिया उसी प्रकार "पाठ" शब्द ने भी। जिस प्रकार "संहिता" का रूप "सहित", "तन्त्र" का "तन्ति", "प्रवचन" का "पावचन" हो गया, उसी प्रकार पाठ शब्द का भी बौद्ध संस्करण "पाळ" हो गया। ध्वनि-परिवर्तन के नियम के अनुसार, ट, ठ, ड, ढ और ण का प्राकृत भाषाओं में 'ळ' हो जाना स्वाभाविक ही है। पालि में अन्त्य, स्वर-परिवर्तन का विधान बहुधा देखा जाता है। इसी के अनुसार अथवा मिथ्या सादृश्य के आधार पर "पाळ" का विकृत रूप "पाळि" हो गया, किंतु "ल" और "ळ" के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद में "पलि" शब्द को "पाळि" शब्द के साथ मिला दिया गया, जो व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से वास्तव में बिल्कुल भिन्न शब्द था। "पाळि" शब्द के साथ इस प्रकार मिलकर "पालि" शब्द भी बुद्ध वचन के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा।[1]

तीसरा मत प० विधुशेखर भट्टाचार्य का है जिसके अनुसार "पलि" शब्द का अर्थ "पंक्ति" है और वह संस्कृत "पालि" शब्द से अभिन्न है। इस मत को "पालि भाषा और साहित्य" का भी समर्थन प्राप्त है। प्रसिद्ध पालि कोश "अभिधानप्पदीपिका" (बारहवीं शती) में पालि शब्द के "बुद्धवचन" और "पंक्ति", दोनों अर्थ दिये हैं। "तन्ति बुद्धवचन पन्ति पालि।" पालि साहित्य में अम्बपालि, दन्तपालि, आदि प्रयोग भी पालि शब्द के "पंक्ति" अर्थ को ही द्योतित करते हैं। अत "पालि" शब्द का अर्थ "पंक्ति" और बाद में "ग्रन्थ की पंक्ति" कर लिया गया और बुद्ध घोष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी संगति भी मिला ली गयी।

प० भरतसिंह उपाध्याय ने पहले मत को ही अधिक ठीक माना है क्योंकि उसको मात्रू शिलालेख का साक्ष्य भी प्राप्त है और 'पेय्याल'[2] शब्द में भी यही तत्व निहित है। दूसरे मत का खडन करते हुए श्री उपाध्याय कहते हैं कि इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से दुर्बलता है। इस मत के प्रतिष्ठापक श्री भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' शब्द की व्युत्पत्ति की है, किन्तु पालि-साहित्य में पाळ शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

---

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृ० ६४१, ६५६

२. देखिये, पालि महाव्याकरण, पृ० ४३ (वस्तुकथा)

फिर 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना 'पाळ' शब्द पर करने का कोई आधार ही नही बनता। बुद्धघोष तक ने 'इति पिपाठो' ही कहा है, इति 'पिपाळो' नहीं। इस प्रकार ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द अपने संस्कृत रूप में ही प्रयुक्त होता रहा है अतएव भिक्षु सिद्धार्थ के मत की स्थापना के लिए कोई आधार नही है।

प्रथम मत के प्रतिष्ठापक भिक्षु जगदीश काश्यप ने पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के मत का खडन करते हुए कहा है कि (१) पंक्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले नहीं लिखा गया था। अतः उस समय के त्रिपिटक के उद्धरण के लिए पालि या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में उपयुक्त नही हो सकता था, (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो 'उदान-पालि 'जैसे प्रयोगों मे 'उदान-पक्ति' अर्थ करने से कोई अभिप्राय सुग्राह्य नही बनता, (३) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पक्ति' होता तो, अट्ठकथाओं आदि में कही तो उसका प्रयोग बहुवचन में भी होना चाहिए था जो नही होता, अत 'पंक्ति' अर्थ हमें पालि शब्द के मौलिक स्वरूप तक नहीं ले जा सकता।

श्रीउपाध्याय ने श्रीमती रायस डेविड्स के मत का आश्रय लेते हुए भिक्षु श्री जगदीश काश्यप द्वारा उठाई हुई प्रथम आपत्ति के संबंध मे कहा है कि 'त्रिपिटक' की अलिखित अवस्था मे 'पालि' या 'पक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पंक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसको लिखित पंक्ति ही 'पालि' कहलाने लगी होगी।[1]

●

१. देखिये, भरतसिंह उपाध्याय, पालि-साहित्य का इतिहास, पृ० ७

: २ :

पालि का अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

पालि और वैदिक भाषा

अशोक की धर्म लिपियो मे पाई जाने वाली विशेषताओ के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय अनेक बोलियाँ प्रचलित थी और किसी साहित्यिक भाषा मे वे किसी न किसी प्रकार अपनी विशेषता को व्यक्त करती हैं, इस नियम के अनुसार वैदिक भाषा मे, उसी प्रकार पालि भाषा मे भी, उन विशेषताओं की अभिव्यक्ति हुई है।

यह अनुमान किया जाता है और इसके लिए समुचित आधार भी है कि ऋग्वेद की रचना अनेक युगो मे अनेक ऋषियों द्वारा की गई, इसलिए उसमे अनेक प्रादेशिक बोलियो का सम्मिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इसी भाषा के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। पाणिनि ने इसी भाषा को व्याकरण मे सुसबद्ध करके साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही सस्कार की हुई भाषा ही सस्कृत कहलाई-सस्कृत का व्यवस्थापन कार्य ब्राह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच मे हुआ। प्राचीन वेद-भाषा से इसकी भिन्नता दिखलाने के लिए 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वेद की भाषा को उस समय के लोग 'छन्दस्' कहते थे। महात्मा बुद्ध ने भी उसे 'छन्दस्' नाम से अभिहित किया है।

जिस समय वेद-भाषा सुसबद्ध और परिष्कृत रूप मे आर्यों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आर्यों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मध्यदेश की वाणी ने सकलित होकर बौद्धो के हाथों से जो साहित्यिक रूप प्राप्त किया, उसीके दर्शन हमे पालि के रूप मे होते हैं, किन्तु दोनों के रूप मे उसका विकास रुका नहीं, इसीलिए हम पालि मे प्राचीन और अपेक्षाकृत अर्वाचीन रूप दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्य-भाषा युग मे, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न-भिन्न ढंगों से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दों के पालि और संस्कृत मे विकसित स्वरूपों की तुलनात्मक ढग से परीक्षा करने पर भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

यह एक सिद्ध तथ्य है कि वैदिक भाषा मे अनेक-रूपता है और यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। कुछ शब्द-रूपों की तुलना से यह तथ्य *स्पष्ट हो जाता है। वैदिक भाषा में अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में* 'देवेभिः', 'कर्णेभिः' जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत में 'देवैः' और 'कर्णैः' रूप हो जाते हैं अर्थात् संस्कृत ने ये रूप छोड़ दिये हैं, किन्तु पालि मे देवेभि या देवेहि और कण्णेभि या कण्णेहि के रूप मे ये रूप सुरक्षित हैं। इसी प्रकार वैदिक भाषा के 'विद्वन्', 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिंग के शब्दों के प्रथमा और संबोधन के बहुवचन *के रूप 'विद्वा' और 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते हैं। पालि के 'चित्ता', 'रूपा'* जैसे प्रयोगों मे यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत मे यह प्रवृत्ति नही मिलती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि मे 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा मे 'रे' प्रत्यय लगता है जो संस्कृत में नहीं पाया जाता, किन्तु पालि में यह 'पस्सरे', 'भासरे' जैसे प्रयोगों मे सुरक्षित है।"[1] वेद मे निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का प्रयोग होता है, पालि मे भी 'कातवे', 'गन्तवे' जैसे रूपों मे हम इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं, किन्तु संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य शब्दों की तुलना इस तथ्य को प्रमाणित कर सकती है, उदाहरण के लिए संस्कृत के 'आम्र' शब्द को ले सकते हैं। इसका वैदिक रूप 'आम्ब्र' है, पालि मे यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब' को रख लिया है।[2] वैदिक अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक्' प्रत्यय लग कर 'देवासः' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। इन रूपों को संस्कृत ने स्वीकार नहीं किया।

१. देखिये, पालि-साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, पृ० २६-३०
२. देखिये, बुद्धिक स्टडीज, पृ० ६५५-५६ (सिद्धार्थ का पालि भाषा सम्बन्धी निबन्ध)

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ हैं। दोनों की जननी एक ही वैदिक भाषा है, किन्तु कबीर की साखी की इस पंक्ति 'संस्कृत जैसे कूप जल, भाषा बहता नीर' को पढ़ने पर पालि और संस्कृत का एक सम्बन्ध-दृश्य सामने आ जाता है। 'पालि' के साहित्यिक भाषा होते हुए भी उसमें वाणी का स्वाभाविक प्रवाह दिखाई देता है। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह आबद्ध सरोवर था (जिसे चाहे महासरोवर भले ही कह दिया जाये) जिसमें समस्त आर्य-ज्ञान विज्ञान अनुमाणित कर दिया गया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक की गति अवरुद्ध थी और दूसरे की धारा लहराती हुई चलती रही। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना आवर्त विवर्त लेकर, वह आज हमारी अनेक प्रादेशिक बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गई। श्री उपाध्याय के साहित्यिक शब्दों में संस्कृत को 'पुराण युवती' कह सकते हैं। पुरानी होते हुए भी वह अपने मौलिक अभिराम रूप को सदैव धारण करती है। यह कहना भी उचित नहीं कि वह 'मृतवाणी' है, वह आज भी शिष्टमुखशोभना है। उसके जरा मरण का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इसके विपरीत पालि में कुमारी, युवती, और वृद्धा के अनेक स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। अन्त में अपनी पीढ़ियों में वह अपने रूप को खो भी बैठी है। पालि त्रिपिटक उसके बाल्य और तारुण्य दोनों का प्रदर्शक है और अनुवर्ती पालि साहित्य उसके वृद्धत्व का द्योतक है। उसके ये विभिन्न भाव उसके एक ही व्यक्तित्व के विचार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किए हैं।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत में वही संबंध देखा जा सकता है जो दो सहोदराओं में होता है। दोनों का साम्य-भेद उनके सामान्य उद्गम को खंडित नहीं करता। दोनों का रूप एकसा है। हाँ, उनकी कुछ ध्वनियाँ भिन्न हैं। फिर भी उनके रूप, अर्थ और ध्वनि-समूह में एक बड़ा साम्य दृष्टिगोचर होता है।

पालि और प्राकृत भाषाएँ

विकास की दृष्टि से प्राकृतों का विकास पालि के बाद का है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत की प्रथम अवस्था को ही पालि माना है। भाषाओं का इतिहास हमें एक

निर्णय की ओर ले जाता है कि एक लोक-सामान्य भाषा में प्रादेशिक भेद से अनेक रूप थे। उनको हम पूर्वी, मध्यदेशीय और पश्चिमोत्तरी रूप कह सकते हैं। बाद में यही बोलियाँ प्राकृतों के रूप में विकसित हुईं। पूर्वी बोली से मागधी, मध्यदेशीय बोली से शौरसेनी, दोनों के सम्मिश्रण से अर्द्धमागधी और पश्चिमोत्तरी बोली से पैशाची का विकास हुआ। पहले ये बोलियाँ मात्र थीं, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इनका स्वरूप अवरुद्ध हो गया फिर भी बोलियों की छाप इनके रूप-विधान पर लगती ही रही। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सात[1] प्राकृतों का उल्लेख किया है और वे हैं—(१) मागधी, (२) अवन्ती, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) वाल्हीक और (७) दाक्षिणात्य। बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पैशाची और लाटी को और जोड़ दिया। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। प्राकृत-वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने महाराष्ट्री की विस्तृत विवेचना करके अन्य प्राकृतों की कुछ विशेषताएँ बतला दी हैं और 'शेष महाराष्ट्रीवत्' कहकर छोड़ दिया है।

भाषा-तत्त्व की दृष्टि से पालि और प्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। ऊपर की हुई विकास-विवेचना के आधार पर यह कहना ही उचित है कि तुलनात्मक अध्ययन में पालि के साथ शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और पैशाची का परीक्षण ही विशेष ध्यान देने योग्य है।

सामान्य-रूप से यह कहा जा सकता है कि पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक-सा ही है। ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से विलीन हो गया है। हाँ, अपभ्रंश में 'ऋ' ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में 'ऋ' प्रायः अ, ई, उ और कभी कभी 'र्' में परिवर्तित हो जाती है। विसर्ग का प्रयोग न तो पालि में मिलता है और न प्राकृतों में। मागधी को छोड़कर शेष सब प्राकृतों में श्, ष् के स्थान पर 'स्' हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ळ' जिस प्रकार पालि में मिलती है उसी प्रकार अन्य प्राकृतों में भी।

पालि में प्राकृत-तत्त्व की विशेष अभिव्यंजना व्यंजन-परिवर्तनों में ही मिलती है जो इस प्रकार है—(१) शब्द के मध्य में स्थित अघोष स्पर्श के स्थान पर ग् या

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥

य् का आगम, (२) शब्द के मध्य-स्थित घोष महाप्राण के स्थान पर 'ह्' का उद्भव, (३) शब्द के मध्य में स्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना, (४) महाप्राण ध्वनि (हकार) का आकस्मिक आगम या लोप और (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि में यहीं-वहीं मिलते हैं, किन्तु इनका कोई विशेष नियम नहीं दीख पड़ता। प्राकृतों में ये परिवर्तन नियमत होते हैं। इसका कारण अधिक सम्भवत यह है कि पालि में जिन ध्वनि-परिवर्तनों का सूत्रपात ही हुआ था, प्राकृतों में वे विकसित होकर नियमबद्ध हो गये। फिर भी हम यह नहीं भुला सकते कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा जिसके रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप ही है।

पाली और मागधी

प्राकृत वैयाकरणों की मागधी से पालि मौलिक रूप में भिन्न है

(१) श् ष् स् इन तीनों ऊष्मों में से पालि ने केवल स् को स्वीकार किया है और मागधी ने श् को।

(२) मागधी में र् ध्वनि नहीं है, केवल ल् का प्रयोग होता है। पालि में र् और ल् दोनों ध्वनियां विद्यमान हैं।

(३) मागधी में पुल्लिंग और नपुंसकलिंग शब्दों के कर्ताकारक एकवचन में 'ए' प्रत्यय का प्रयोग होता है (यथा धम्मे), किन्तु पालि में क्रमश ओकारान्त और अनुस्वरांत रूप बनते हैं (यथा धम्मो और रूप)।

पालि और शौरसेनी

शौरसेनी प्राकृत मध्य-मंडल या मध्यदेश की भाषा थी। इसका सम्बन्ध शूरसेन प्रदेश या ब्रज-मंडल से होने के कारण इसे शौरसेनी कहते थे। यह प्राकृत संस्कृत के अधिक समीप है। वैदिक वाणी और शौरसेनी प्राकृत को देखकर यह कल्पना असंगत नहीं कि पालि इन दोनों भाषाओं के बीच की कड़ी है। पालि और शौरसेनी के विकास को जोड़कर हम वैदिक वाणी से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उत्तरकालीन पालि से शौरसेनी का साम्य अधिक स्पष्ट हो गया है। इसका कारण स्पष्ट है - पालि भी मध्यमंडल की लोक-भाषा पर आधारित है और शौरसेनी पर उसके प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक था। जिन विद्वानों ने पालि का आधार मध्यदेशीय बोली न मानकर किसी पूर्वी बोली को माना है उन्होंने शौरसेनी के साथ

उसके सर्वाधिक साम्य को भुला दिया है। वह साम्य इस प्रकार है :—(१) शौरसेनी के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का लोप नहीं होना और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है, (२) शब्द के मध्य-स्थित 'न्' में भी साधारणतः परिवर्तन नहीं होता, (३) शब्द के आदि में स्थित 'य्' के स्थान पर 'ज' नहीं होना, जैसाकि उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है, (४) 'दानि' और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप में प्रयुक्त होते हैं, और (५) इसी प्रकार पेक्ख, गमिस्सति, सयिकति जैसे रूपों में समानता है।

पालि और अर्द्धमागधी

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि पालि बौद्धों की साहित्यिक भाषा थी। इस भाषा का आधार मध्यदेशीय भाषा होते हुए भी अन्य भाषाओं और बोलियों से इसका संबन्ध था। जो भिक्षु इस को धर्मवाहन के रूप में स्वीकार किये हुए थे वे अनेक प्रदेशों से संबंधित होने के कारण अनेक बोलियों और भाषाओं से भी संबंधित थे। इसमें उनकी धर्म-भाषा पर उनकी छाप का रहना अस्वाभाविक नहीं था। पालि में अर्द्धमागधी, मागधी या पैशाची का जो प्रभाव या साम्य दीखता है उसका यही कारण है। वास्तव में पालि और मागधी एक नहीं हैं, इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने पालि का आधार अर्द्धमागधी कह डाला है। जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमें 'जैनागमों' में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो है, किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्गम या आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक और भाषा वैज्ञानिक प्रमाणों से यही सिद्ध किया गया है कि उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ। फिर पालि में उस पूर्वी बोली के, जिसने कालक्रम से मागधी को जन्म दिया और जिसका प्रभाव अपने पड़ोस की बोलियों पर भी पड़ा, कुछ रूप मिल ही जाते हैं। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं :—(१) संस्कृत 'अस' और 'अर' के स्थान पर पालि और अर्द्धमागधी दोनों में 'ए' हो जाता है, पालि के पुरे (पुरः), सुवे (श्वः), भिक्खवे (भिक्षवः), पुरिसकारे (पुरुषकारः) दुक्खे (दुःख) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर दोनों में 'से' हो जाता है। यह प्रवृत्ति 'सेय्यथा' (तद्यथा) जैसे पालि के प्रयोगों में रूढ़ हो गई है। (३) इसी प्रकार संस्कृत 'यद्'

के स्थान पर (ये) हो जाता है। (४) 'र्' का 'ल्' हो जाना अर्द्धमागधी की एक बहुत बड़ी विशेषता है। पालि मे भी यह विशेषता कहीं-कहीं मिल जाती है, किंतु इसका कोई नियम नहीं है। (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरो के बाद आने पर 'एव' का 'येव' हो जाता है, कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति पालि मे भी मिल जाती है। (६) वर्ण-परिवर्तन भी पालि मे कहीं-कहीं अर्द्धमागधी के समान ही हो जाता है, जैसे—

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्ष (आखों के सामने)	सक्खि (सक्खि भी)	सक्ख
लांगल (हल)	नगळ	नगळ
वेणु (बांस)	वेळु	वेळु
तत्सर (मूंठ, तलवार)	थरु	थरु (छरु भी)

पालि और पैशाची

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि पालि ऐसी साहित्यिक भाषा थी जिसमें अनेक बोलियों के शब्द और रूपों का समावेश मिलता है। इसमें यदि पालि और पैशाची में भी कुछ समानताएँ हैं तो यह न तो किसी आश्चर्य की बात है और न उससे यही सिद्ध करने की बात उठती है कि वह पालि का आधार था। इन दोनों भाषाओं की प्रमुख समताएँ इस प्रकार है —

(१) घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब्) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क्, त्, प्) हो जाते हैं, (२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन सुरक्षित रहता है, (३) 'भरिया' 'सिनान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाता है, (४) ज्ञ, ण्य, और न्य का परिवर्तन 'ञ' में हो जाता है (५) य का 'ज्' में परिवर्तन नहीं होता, य सुरक्षित रहता है, (६) अकारान्त पुल्लिंग शब्द प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाते हैं, (७) धातु-रूपों में भी समानताएँ मिलती है, (८) 'र्' का 'ल्'-में परिवर्तन नहीं होता।

पालि की ये समानताएँ केवल पैशाची के साथ ही हो, ऐसी बात नहीं है, अन्य प्राकृतों में भी प्राय ये विशेषताएँ पायी जाती हैं, जैसे 'ज्ञ' 'ण्य' और 'न्य' के स्थान पर 'ञ' मागधी तथा अन्य प्राकृतों म भी हो जाता है। इसी प्रकार मागधी आदि में 'य' का परिवर्तन 'ज्' में न होकर, वह सुरक्षित रहता है। अ-कारान्त शब्दों का ओकारान्त केवल पैशाची में ही नहीं, सभी पश्चिमी प्राकृतों में हो जाता है।

पालि धातु-रूपों में सभी पश्चिमी प्राकृतों के धातु-रूपों से समता मिलती है। जिस प्रकार पालि में 'र्' को 'ल्' नहीं होता, बल्कि 'र्' सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार अन्य पश्चिमी प्राकृतों में भी 'र्' सुरक्षित रहता है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन सुरक्षित रहना पैशाची की प्राचीनता का द्योतक है, इससे पालि और प्राकृत की घनिष्ठता का अनुमान नहीं कर लेना चाहिए।

इस विवेचन के आधार पर पालि को किसी एक प्राकृत से संबद्ध कर देना न केवल एकांगी सिद्धान्त है, अपितु भ्रामक भी है। तथ्य यही है कि पालि एक साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के शब्द-रूपों और प्रयोगों का मिश्रण है और इसकी रीढ़ में उस प्राचीन वाणी का बल है जिसे शौरसेनी की पूर्वजा कहा जा सकता है।

विकास-क्रम

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि पालि एक मिश्रित साहित्यिक भाषा है। उसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान हैं। उसमें अनेक शब्दों और धातुओं के दुहरे-तिहरे रूप भी यही तथ्य उद्घाटित करते हैं। पालि-साहित्य के अवलोकन से यह भी प्रकट होता है कि इस मिश्रित भाषा का क्रमिक विकास हुआ और उसमें बोलियों के तत्त्व समाविष्ट होते चले गए। साधारणतः हमें पालि-भाषा के विकास की चार अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं : (१) त्रिपिटक-गाथाओं की भाषा, (२) त्रिपिटक-गद्य की भाषा, (३) उत्तरकालीन पालि-गद्य की भाषा और (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा।

(१) त्रिपिटक गाथाओं की भाषा बहुत प्राचीन है। उसमें वैसी ही अनेक-रूपता मिलती है जैसी वैदिक भाषा में, यद्यपि पालि का अपना विशेष रूप-विधान है जो उसे वैदिक भाषा से पृथक् स्थिति में प्रस्तुत करता है, किन्तु कहीं-कहीं विभिन्नताओं की अल्पता के कारण दोनों भाषाओं में अविनिर्विष्ट्य प्रकट होता है। उन अल्प विभिन्नताओं के मूल में ध्वनि-परिवर्तन विद्यमान है। 'राजन्' और 'पितृ' जैसे शब्द प्राचीन आर्य भाषा से पालि में चले आए हैं और उनके क्रमशः 'राजिनो' और 'पितुस्स' जैसे रूप हो गये हैं। इस प्रकार यह भाषा बुद्ध कालीन मध्य प्रदेश की लोक-भाषा होने के साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। इस भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण 'सुत्तनिपात' की भाषा में मिल सकता है।

(२) त्रिपिटक-गद्य की भाषा में गाथाओं की भाषा की अपेक्षा एकरूपता

अधिक है। इसमें अपेक्षाकृत प्राचीन रूपों की न्यूनता और नये रूपों की अभिवृद्धि दृष्टिगोचर होती है। 'जातक'—भाषा इसका उदाहरण है।

(३) उत्तरकालीन पालि-गद्य साहित्य की भाषा के दर्शन हम अट्ठकथा और मिलिन्द प्रश्न-साहित्य में होते हैं। यह भाषा भी त्रिपिटक के गद्य में मिलती है। इसमें साहित्यिकता बढ़ गई है। भाषा ने अपना रूप सँवार लिया है इसलिए अलकारों की मात्रा कुछ बढ़ गई है। कृत्रिमता ने भी अलकारों का साथ दिया है। इस भाषा में विकसित गद्य शैली का साक्षात्कार होता है।

(४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखकों ने अपनी अपनी रुचि के अनुरूप कहीं तो केवल प्राचीन रूपों का और कहीं अपेक्षाकृत नवीन रूपों का प्रयोग किया है। पालि में जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते क्योंकि यह भाषा धार्मिक क्षेत्रों में आबद्ध रह गई। इसका बाहर निकलना सम्भव न हो सका। इन रचनाओं पर संस्कृत-साहित्य के बढ़ते हुए प्रभाव को भी देख सकते हैं। इस भाषा का स्वरूप हम 'महावंश', 'दीपवंस', 'दाठावंस' 'तेलकटाहगाथा' जैसे ग्रन्थों में मिलता है।

रूपात्मक विवेचना

ध्वनि-समूह की अपेक्षा पालि का रूप विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि के रूप-विधान की विशेषता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से संस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण ने वैदिक विभिन्नताओं को एकरूपता दी इसलिए संस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिए गए जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे परन्तु लोक भाषाओं का मिश्रण होने से पालि में ये प्रयोग चलते रहे। पालि के रूप विचार की यह एक बड़ी विशेषता है।

सरलीकरण

पालि में संस्कृत की अपेक्षा से वर्ण कम हैं। वचन भी पालि में दो ही रह गए, एक वचन और अनेक वचन। उसमें संस्कृत के समान द्विवचन नहीं है। द्विवचन के स्थान पर पालि में अनेकवचन का प्रयोग होता है और द्विवचन के रूपों को बहुवचन में समाविष्ट कर लिया गया है। सात विभक्तियों के होते हुए भी पालि में उनके रूपों की घटी मरदना है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में प्रायः कोई भेद

नहीं होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते हैं। पालि में व्यंजनान्त पद का प्रयोग नहीं होता। पालि में सभी पद स्वरान्त हो जाते हैं। संज्ञा और सर्वनाम के रूपों में भी सरलीकरण की यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात लागू होती है। नाम के लिए तो पालि में भी परस्मैपद (परस्सपद) और आत्मनेपद (अत्तनोपद) ये दो पद हैं, किंतु व्यवहार में आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगों में भी जहाँ संस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक रूप में होना चाहिए, पालि में उसका प्रयोग प्रायः वैकल्पिक होता है। संस्कृत के दस गणों के स्थान पर पालि में केवल सात गण ही पाए जाते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार हैं। लिट्-लकार का प्रयोग पालि में प्रायः नहीं होता। 'लङ्' और 'लुट्' में से जिनमें भूतकाल का द्योतन होता है, पालि में प्रायः 'लुट्' का ही प्रयोग अधिकता से होता है।

रूपों की अनेकता

पालि में रूपों की अनेकता मिलती है। यह थाती उसने वैदिक भाषा से प्राप्त की है। संस्कृत ने उसे व्यवस्थित करके उसमें एकरूपता ला दी है। वेद-भाषा में पुल्लिंग अ-कारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय भी लगता था जिससे 'देव' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। यह प्रयोग 'पालि' में देवासे, धम्मासे, बुद्धासे, जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'देवेभिः' है। पालि में यह 'देवेभि' के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया। चतुर्थी विभक्ति के लिए वैदिक भाषा में प्रायः षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिए चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है, संस्कृत ने उसे निश्चित नियम में आबद्ध कर लिया है, किन्तु पालि में यह व्यत्यय "ब्राह्मणस्स धन ददाति", "ब्राह्मणस्स सिस्सो मालां गच्छति" जैसे प्रयोगों में मिलता है। पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप निश्चित रूप से समान होते हैं। वैदिक भाषा में 'पति' और 'गो' शब्दों के रूप तृतीया एकवचन और षष्ठी बहुवचन में क्रमशः 'पतिना' और 'गोनाम' होते थे, पालि में ये क्रमशः 'पतिना' तथा 'गोन' या गुन्न' के रूप में सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत ने इनको स्वीकार नहीं किया है।

लिंग—

इसी प्रकार वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग की जगह बहुधा पुल्लिंग का भी *प्रयोग होता था, संस्कृत में यह प्रवृत्ति रुक गयी अर्थात् वहाँ ये प्रयोग नहीं होते* किन्तु पालि में बहुधा ऐसा होता है, जैसे 'फल' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलानि' दोनों ही रूप होते हैं।

धातुरूप

यही प्रवृत्ति धातु रूपों में भी मिलती है। आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद वैदिक भाषा में इतना स्पष्ट नहीं था। उसमें 'युध्यति युध्यते' और 'इच्छति' 'इच्छते' जैसे दोनों प्रयोग दिखाई देते हैं, किन्तु पालि में यह प्रवृत्ति वैसी ही चली आ रही है। संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान है। वैदिक भाषा में 'श्रु' धातु की लोट् (अनुज्ञा) में मध्यम पुरुष एकवचन के लिए 'श्रृणुधी' और मध्यम पुरुष बहुवचन के लिए 'श्रृणोत' प्रयोग होते थे, पालि में ये क्रमशः 'सुणुहि' और 'सुणोथ' के रूप में सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का 'लुङ्' में उत्तमपुरुष, एकवचन का रूप 'वधी' होता था, पालि में यही 'वधि' के रूप में सुरक्षित है, किन्तु संस्कृत ने इसे स्वीकार नहीं किया।

कृदन्त के प्रयोग में भी पालि और वैदिक भाषा में बहुत साम्य है। वेद में चौदह निमित्तार्थक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेन, क्से, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन, तवेन, तु। इनमें से तवेन और तु पालि में भी मिलते हैं, किन्तु संस्कृत ने उक्त प्रत्ययों में से केवल तु को लिया है। वैदिक 'दातवै' अथवा 'दातवे' पालि में 'दातवे' के रूप में सुरक्षित है। इसी तरह पालि के कातवे, विप्पहातवे, निधातवे जैसे प्रयोग वैदिक प्रयोगों की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। ये संस्कृत में नहीं मिलते। वेद में 'ल्यप्' के स्थान पर 'त्वा' का प्रयोग भी मिलता है, यथा 'परिधापयित्वा' पालि में भी 'ल्यप्' के स्थान पर 'त्वा' का प्रयोग मिलता है जैसे, अभिवन्दित्वा, निस्साय आदि। संस्कृत व्याकरण के अनुसार ये प्रयोग अशुद्ध हैं, वहाँ उस धातु के साथ अनिवार्यतः 'ल्यप्' का प्रयोग होता है जिसके पूर्व कोई उपसर्ग होता है। वैदिक भाषा में 'त्वाय' '*त्वीन आदि प्रत्ययों से 'गत्वाय', 'इष्ट्वीन' जैसे पूर्वकालिक क्रिया के रूप बनते* थे। इसकी परम्परा का निर्वाह पालि के 'गत्वान', 'कातून' जैसे प्रयोगों में मिलता

है।

विभक्ति, वचन, वर्ण और काल

वेद की भाषा में इनके अनेक व्यत्यय मिलते हैं जो 'पालि' में भी पाये जाते हैं। 'एकस्मि समयस्मि' के लिए 'एक समय' (विभक्ति व्यत्यय), 'अस्तिइमस्मिं काये केसा लोमा नखा' के लिए 'अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा (वचन व्यत्यय), 'बुद्धेभि' के स्थान पर 'बुद्धेहि', 'दुक्कट' के स्थान पर 'दुक्कतं' (वर्ण-व्यत्यय), 'अनेक जाति-ससार सन्धाविस्स' (भूतकाल के अर्थ में भविष्यत् प्रयोग काल-व्यत्यय) जैसे प्रयोग पालि में व्यत्यय-उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु संस्कृत में ये स्वीकृत नहीं किये गए।[1] इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत की अपेक्षा पालि ही को वैदिक भाषा का अधिक सच्चा उत्तराधिकार मिला है।

---

१. देखिये, भिक्षु जगदीश काश्यप: पालि-महाव्याकरण, पृ० २३-२६

: ३ :

पालि-साहित्य

आजकल दो प्रकार के बौद्धागम उपलब्ध हो रहे हैं। उनमें से एक तो संस्कृत-वाणी में हैं दूसरे पालि-भाषा में। पालि-भाषा में लिखे हुए आगम अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन और प्रामाणिक हैं। वे 'बुद्ध-वचन' के नाम से सम्मानित किये जाते हैं। कालान्तर में बौद्ध मत दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया जिन्हें हीनयान और महायान कहा जाने लगा। बौद्ध भी दो प्रकार के होगये। पालि शासन का अनुरोध करने वाले दक्षिणी बौद्ध सिंहल, ब्रह्मा आदि देशों में आज भी मिलते हैं। चीन-महाचीन आदि जनपदों में जो बौद्ध रहते हैं वे दूसरे हैं।

त्रिपिटक

इस बात का भली-भाँति समझने के लिए पालि-भाषा में लिखे ग्रंथ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहले धर्म-ग्रंथ हैं, दूसरे व्याकरणादि शास्त्रीय विषयों के ग्रंथ। धर्म-ग्रंथ 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। 'त्रिपिटक' के तीनों पिटकों के नाम इस प्रकार हैं—विनय पिटकम्, सुत्तपिटकम् (सूत्रपिटकम्), अभिधम्म पिटकम् (अभिधर्म पिटकम्)। 'विनय पिटक' का सम्बन्ध विनय नियमों से है। इसमें बौद्ध-संघ के प्रबंध एवं भिक्षु-भिक्षुणियों की दैनिक चर्या से सम्बन्धित नियम हैं। ऐसी मान्यता है कि इन नियमों को स्वयं बुद्ध ने बनाया था। विनय-पिटक में सीधे लिखे ग्रंथ हैं—सुत्तविभंग, खंधक, परिवार और पातिमोक्ख। सुत्तविभंग के दो भेद हैं—(क) पाराजिक, (ख) पाचित्तिय। खंधक में महावग्ग और चुल्लवग्ग सम्मिलित हैं।

पाराजिक और पाचित्तिय का सम्बन्ध क्रमशः धर्मबहिष्कार और प्रायश्चित्त (दो प्रकार के अपराधों) से है। महावग्ग धर्म-प्रवेश के नियमों और धर्माचारों से सम्बन्धित है। चुल्लवग्ग में बुद्ध जन्म से सम्बन्धित कहानियाँ, संघ का इतिहास

और विधान है। इसमें बारह अंग हैं जिनमें से नौ भिक्षुओं के जीवन-नियमों से सम्बन्धित हैं। 'परिवार-पाथ' शिक्षा-सम्बधी ग्रंथ है। 'पाटिमोक्ख' में चार पाराजिको, भिक्खुओं के वस्त्रों, प्रवारणोत्सवों, भिक्षा-पात्रों, 'पाचत्ति', 'समकाय-बंधनों', भिक्षुओं की आवश्यकताओं, शिक्षाओं 'उपोसथ-कम्म', और 'सुद्धि' का निरूपण है।

जिस प्रकार विनय पिटक में प्राचीन बौद्ध-धर्म और भिक्षु-जीवन का परिचय मिलता है उसी प्रकार सुत्तपिटक से तर्क और संवादों में निरूपित महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों का परिचय मिलता है इनमें बुद्ध के आदिम शिष्यों का भी विवरण मिलता है। इसमें गद्य-संवाद हैं। प्राचीन कथाएँ, छोटी-छोटी कहावतें और मुक्तक छंद हैं। गद्य और निकाय ये हैं—(१) दीघनिकाय या दीघागम अथवा दीघ-संग्रह, (२) मज्झिम निकाय, (३) संयुत्त निकाय, (४) अङ्गुत्तर निकाय, और (५) खुद्दक निकाय।

(१) दीघनिकाय के तीन भाग हैं—सीलक्खंध, महावग्ग तथा पाथेय या पातिक वग्ग। दीघनिकाय में चौतीस सुत्त हैं जिनमें से प्रत्येक में किसी एक या अनेक बौद्ध-सिद्धान्तों का विवेचन है।

(२) सुत्तपिटक का दूसरा निकाय मज्झिम निकाय है। इसके तीन भाग हैं और प्रत्येक के पचास सुत्त हैं। यह निकाय बौद्धधर्म-सम्बन्धी लगभग सभी बातों का विवेचन करता है। इस निकाय के सुत्तों में न केवल बौद्ध-भिक्षुओं के जीवन पर ही प्रकाश डाला गया है, अपितु ऐसे विषयों का निरूपण भी मिलता है जो बौद्ध धर्म की परिधि को किसी प्रकार भी छूते हैं, जैसे ब्राह्मण-यज्ञ, योग के अनेक रूप, बुद्ध का जैनों से सम्बन्ध, और तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति। बौद्ध धर्म के चार सत्यों, रूप या कर्म सिद्धान्त, आत्मवाद के खंडन, ध्यान की अनेक पद्धतियाँ आदि का विवेचन भी इसी निकाय में मिलता है।

(३) 'संयुत्त निकाय', 'सुत्तपिटक' का तीसरा निकाय है। इसमें ये संयुत्त या वर्ग हैं—(१) सगाथवग्ग, (२) निदान-वग्ग, (३) खंधवग्ग (४) सलायतन वग्ग (५) महावग्ग। संयुक्त निकाय ऐसे सुत्तों का संग्रह है जिनमें मानसिक और चारित्रिक तथा दार्शनिक समस्याओं का निरूपण है।

(४) अगुत्तर निकाय-एकुत्तर या अगुत्तर निकाय में अनेक धर्मों का विवेचन है। विवेचन में एक क्रम है जो धर्म-मूल्यों का सूचक है। इसमें २३ सौ सुत्त और

११ भाग हैं जिनको निपात कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) एक निपात, (२) दुक निपात, (३) तिक निपात, (४) चतुक्क निपात, (५) पञ्चक निपात, (६) छक्क निपात, (७) सत्तक, (८) अट्ठक, (९) नवक, (१०) दसक और (११) एकादसक।

(५) खुद्दक निकाय—यह सुत्तपिटक का अंतिम भाग है। इसके सोलह भाग हैं, किन्तु बुद्धघोष १५ ही मानता है। इसके विषय विभिन्न समयों की सूचना देते हैं। इसका अधिकांश भाग पद्य में है। बौद्ध-काव्य के अन्तर्गत इसका बड़ा महत्व है। इसके १६ भाग इस प्रकार हैं—(१) खुद्दक पाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्त निपात (६) विमान वत्थु, (७) पेत वत्थु, (८) थेर-गाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) महानिद्देस, (१२) चुल्लनिद्देस, (बुद्धघोष ने इन दोनों को एक माना है), (१३) पटिसम्भिदामग्ग, (१४) अपदान, (१५) बुद्धवंस, (१६) चरिया पिटक।

तीसरा पिटक अभिधम्म पिटक है। इसमें बौद्ध धर्म का दार्शनिक विवेचन तथा अध्यात्म चिन्तन है। इसमें लगभग उन सब विषयों का विवेचन है जो सुत्त-पिटक में निरूपित है, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि इस पिटक में उनका विवेचन अधिक दार्शनिक गम्भीरता से किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रारम्भिक मूलबिन्दु सुत्तपिटक ही है। भावों को केवल सूची रूप में दिया गया है। जो समानार्थक शब्दों से बोझिल है और कहीं-कहीं तो अभिप्राय ग्रहण करना भी कठिन हो जाता है। इसको हम धम्म या सुत्त का पूरक भी कह सकते हैं। इसमें दर्शन की कोई क्रमिक विवेचना नहीं है। इसके सात भाग हैं—(१) धम्म सङ्गणी, (२) विभङ्ग, (३) कथावत्थु, (४) पुग्गल-पञ्ञत्ति, (५) धातुकथा, (६) यमक और (७) पट्ठान। अभिधम्म पिटक के सात ग्रन्थों में अधिक महत्वपूर्ण 'कथावत्थु' है। इसमें आत्म निर्वाण और अर्हत् पद की विषय-व्याख्या की गई है।

जातक-विवेचन

'जातक' शब्द

सुत्तपिटक के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि उसका एक भाग खुद्दक-निकाय भी है, जिसके पन्द्रह या सोलह भाग हैं। उसका दसवाँ प्रसिद्ध भाग जातक है। यह शब्द जन् धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर 'क' के योग से बना है। इसका अर्थ

है—जन्म-सम्बन्धी। जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित कथायें हैं। 'बुद्धत्व' की स्थिति से पूर्व भगवान् बुद्ध 'बोधिसत्व' कहलाते थे। बोधिसत्व की दशा में वे बुद्धत्व के लिए सचेष्ट हुए और दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दस पारमिताओं (परिपूर्णताओं) का अभ्यास करने लगे। भूत-दया-वश उन्होंने अपने प्राणों का बलिदान अनेक बार किया। अनेक स्थितियों को पार करते हुए उन्होंने बुद्धत्व की योग्यता प्राप्त की।

बोधिसत्व

'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ है 'बोधि' के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्व)। कुछ विद्वान् इस पद का अर्थ 'बोधि' के लिए है सत्व (सार) जिसका, ऐसा भी करते हैं[१]। पालिसुत्तों में अनेक बार ऐसे उल्लेख मिलते हैं "सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बुद्ध न होने के समय, जब मैं बोधिसत्व ही था" आदि। इसलिए 'बोधिसत्व' में ज्ञान, सत्य, दया आदि का अभ्यास करनेवाला वह साधक जो बाद में 'बुद्ध' हो गया, यह तात्पर्य स्पष्ट ही है। भगवान् बुद्ध बुद्धत्व की प्राप्ति से पूर्व केवल अन्तिम जन्म में ही बोधिसत्व नहीं रहे थे अपितु अनेक पूर्वजन्मों में भी उन्हें तदनुकूल आचरण किया था।

जातक कथाएँ

इस प्रकार जातक कथाएँ भगवान् बुद्ध के उन विभिन्न पूर्वजन्मों से सम्बधित हैं जब कि वे बोधिसत्व रहे थे। अनेक जातकों में उनकी पात्रता विविधता लिये हुये है। किसी में वे नायक हैं, किसी में गौण पात्र और किसी में केवल दर्शक। प्रत्येक कहानी अपने प्रारम्भ में एक रूपता लेकर आती है और आरम्भ प्रायः इस प्रकार होता है :—

"एक समय राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय" आदि। अतएव यह बड़ा रोचक विषय है कि प्रत्येक जातक कहानी एक ऐसी भूमिका के साथ आरम्भ होती है जो सामान्य है, एकरूप है और जो बुद्ध के जीवन सम्बन्धी उन उन परिस्थितियों का वर्णन करती है जिन्होंने उनको अपने जन्म की कहानी कहने और बोधिसत्व के रूप में अनेक-अनेक पूर्वजन्मों से सम्बन्धित कुछ घटनाओं को व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया। उनके अन्त में सदैव संक्षिप्त सारांश रहता है,

---

१. विटर निटज़: इण्डियन लिटरेचर, पृष्ठ ११३, पद संकेत २

जिसमें बुद्ध कहानी में आनेवाले विभिन्न व्यक्तियों को पहिचान लेते हैं।

संकलन

वास्तव में जातकों का संकलन सुत्तपिटक और विनयपिटक के आधार पर किया गया है। सुत्तपिटक में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनका उपयोग उन ग्रन्थों में उपदेश देने के प्रसंग में किया गया है, किन्तु उनमें बोधिसत्व का उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संकलन का कार्य बाद में हुआ है और तभी प्रत्येक कहानी को जातक रूप दिया गया है।

जातकों का उद्‌भव

सद्धर्मपुण्डरीक में यह उल्लेख आया है कि अपने श्रोताओं की प्रतिभा और शक्ति में अन्तर देखकर बुद्ध ने अनेक प्रकार से, अनेक कहानियों के रूप में—ऐसी कहानियों के रूप में जो रोचक ही नहीं उपदेशात्मक भी थीं—अनेक उपदेश दिये। वे ऐसी कहानियाँ थीं जिनका मोहक प्रभाव इस जीवन में ही नहीं पड़ता, अपितु उनमें उल्लिखित नियमों से मनुष्य मृत्यु के पश्चात् भी आनन्दमय स्थिति प्राप्त कर सकता है। उसी पुस्तक में यह भी उल्लेख मिलता है कि बुद्ध ने सूत्रों और गाथाओं, पौराणिक कथाओं और जातकों द्वारा अपने उपदेश दिये थे। शायद स्वयं गौतम बुद्ध ने जनता को उपदेश देने के लिये लोक-प्रचलित कहानियों का उपयोग किया था और यह तो निश्चित ही है कि बौद्ध भिक्षुओं और उपदेशकों ने तो लोक-कथाओं का उपयोग किया ही था। यद्यपि राजकथा, चोरकथा अथवा भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट, भूतप्रेत आदि से सम्बन्धित कथाओं को 'तिरश्चीन' (व्यर्थ अधम) कथाएँ कहकर भिक्षुसंघ में हेय माना जाता था, फिर भी भिक्षु लोग, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग किसी मात्रा में करते ही थे। स्वयं भगवान बुद्ध तक ने उपदेशों में उपमाओं तथा कुछ लोक-कथाओं का प्रयोग किया था। इसी प्रवृत्ति ने बौद्धधर्म साहित्य में जातक के जन्म को प्रेरित किया। यों तो सभी कहानियों की नूतन सृष्टि नहीं हुई, अनेक लोक-प्रचलित कहानियों को भी बौद्ध ग्रंथों में अपना लिया गया किन्तु एक नये नैतिक रंग से उनको नवेली का रूप मिल गया। नैतिकता जातकों की विशेषता है और मूल रूप में यह विशेषता बौद्ध धर्म की है। यह ठीक हो सकता है कि ये कहानियाँ जनश्रुति से परम्परा रूप में प्रवाहित होती आ रही थीं किन्तु उन सूत्रों को इस प्रकार रखा और बुना गया है कि उनके संपूर्ण ढाँचे में बौद्ध धर्म के नैतिक

आदर्श दृष्टिगोचर हो रहे हैं।—बुद्ध से पहले की अनेक योनियों में गौतम ने अपने कर्म के अनुसार देव, राजा, व्यापारी, सामन्त, चाण्डाल, हाथी; किसी भी मनुष्य पशु या पक्षी योनि में जन्म लिया था, अतएव किसी भी कहानी में कोई इसी, प्रकार का नायक ढूंढकर उसको बोधिसत्व से सम्बोधित किया, चाहे वह कहानी कैसी ही लौकिक क्यों न रही हो। कहा जाता है कि बहुत से जातकों का उद्भव ऐसी ही बहुत सी कहानियों से हुआ है। कुछ कहानियाँ, जिनको जातकों का रूप दिया गया, सूत्रों में सामान्य रूप से कही गई हैं और उनका बोधिसत्व से कोई सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। इसके विपरीत कुछ ऐसे जातकों का उल्लेख भी किया जाता है जो वास्तविक है और जो सूत्रों में सम्मिलित हैं, जैसे दीघनिकाय के अन्तर्गत कूटदंन्त-सुत्त और महासुदस्सन-सुत्त।

त्रिपिटक में जिस जातक (ग्रन्थ) का समावेश है, वह केवल गाथाओं का संग्रह है जिस प्रकार धम्मपद एक चीज है और धम्मपद-अट्ठकथा दूसरी, उसी प्रकार जातक एक चीज है और जातक-अट्ठकथा दूसरी। अन्तर यह है कि धम्मपद का अर्थ बिना धम्मपद-अट्ठकथा के समझ में आ सकता है, जातक यद्यपि धम्मपद की तरह गाथा मात्र है तो भी उन गाथाओं से, यदि पहले से कथा मालूम हो तो, पाठक को वह याद आ सकती है। यदि कथा मालूम न हो तो अकेली गाथाओं से वह उद्देश्य पूरा नहीं होता। बिना जातकट्ठकथा के जातक अधूरा है।

जातक-भाग

प्रत्येक जातक कथा के पाँच भाग मिलते हैं—(१) पच्चुप्पन्नवत्थु, (२) अतीतवत्थु, (३) गाथा, (४) वेय्याकरण या अत्थवण्णना, और (५) समोधान। वर्तमान काल की घटना या कथा को पच्चुप्पन्नवत्थु कहते हैं। जो घटना बुद्ध के जीवन-काल में ही घटी, वह पच्चुप्पन्नवत्थु है। भगवान बुद्ध उसी घटना से किसी पूर्वजन्म के वृत्त को कहने का अवसर ग्रहण करते हैं। यह पूर्वजन्म का वृत्त ही, 'अतीत वत्थु' है और यही प्रत्येक जातक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। कहीं-कहीं तो पच्चुप्पन्नवत्थु इसी के अनुकूल गढ़ली गई प्रतीत होती है। इसके बाद एक या अनेक गाथाएँ आती हैं जो जातक के प्राचीनतम अंश है। कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि वास्तव में ये गाथाएँ भी जातक हैं। गाथाओं के बाद जातक में वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती हैं। इसमें गाथाओं की व्याख्या और उसका शब्दार्थ होता है। यह भी जातक का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। 'समो-

धान' मे अतीतवस्तु के पात्रो का बुद्ध के जीवन काल के पात्रो के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, 'उस समय अटारी पर से शिकार खेलने वाला शिकारी अब का देवदत्त था और कुरंगमृग तो मै था ही।''

जातक मे गद्य-पद्य

जातक गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ है। पद्य भाग, जिसमे गाथाएँ होती है, जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इसी भाग की गणना त्रिपिटक के अंतर्गत की जाती है, शेष सब उसकी व्याख्या है जिसे अट्ठकथा के अन्तर्गत रख सकते हैं। फिर भी हम सुविधा के लिए उसको जातक कह देते है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका यह नाम गलत है। वास्तव मे जातक नाम गाथाओ को ही दिया जाना चाहिए। जिनको हम जातक कथाओ के नाम से अभिहित करते है और जिनकी सख्या ५४७ के लगभग मानी गई और जो उपर्युक्त ५ अगो से युक्त है उनको जातक न कहकर 'जातकट्ठवण्णना (जातक के अर्थ की व्याख्या) कहना चाहिये। अतएव जातक अपने मूलरूप मे गाथा मात्र है, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

गाथाएँ

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि बुद्धवचनो को नौ अगो मे विभक्त किया गया है और ये अग बड़े प्राचीन है। इनमे से जातक सातवा अग मे है। इस दृष्टि मे जातक कथाएँ सर्वथा पालि साहित्य का अभिन्न एव महत्वपूर्ण अग है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जातको का सकलन सुत्तपिटक और विनयपिटक के आधार पर हुआ है, वह भी समय-समय पर और स्वय त्रिपिटक को भी अनेक वर्गीकरणो और सम्मिश्रणो के पथ से गुजरना पड़ा इस कारण मतान्तरो का होना स्वाभाविक ही था। अत जातको की सख्या के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नही दिया जा सकता।

सख्या

कुल जातक कितने है? यह प्रश्न इस प्रश्न से सम्बन्धित है कि बुद्ध होने से पूर्व बोधिसत्व ने कितनी बार जन्म लिया। इसका उत्तर कठिन ही नहीं असभव भी है। ''खुद्दक निकाय'' के चरिया पिटक मे ३५ चरिया या चरित्र हैं। गद्दून

१. देखिए, 'कुरगमिगजातक' (२१)

बौद्धसाहित्य में "जातकमाला" नामक एक ग्रंथ है, जिसके रचयिता आर्यशूर हैं। इस जातक माला में कुल ३४ जातक हैं। लंका, बर्मा, स्याम आदि देशों में अब तक जो परम्परा प्रचलित है उसमें हमें ५५० जातकों का परिचय मिलता है, किन्तु जातक के वर्तमान रूप में ५४७ या ५४८ कहानियाँ ही पाई गई हैं, यद्यपि संख्या को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि कई कहानियों में एक ही कहानी के सूत्र बुने हुए मिलते हैं और कई ऐसी कहानियाँ हैं जो "सूत्रपिटक" "विनय पिटक" तथा पालिभाषा के अन्य ग्रन्थों में तो मिलती हैं किन्तु जातक के वर्तमान रूप में समाविष्ट नहीं हैं। इससे जातक संख्या न्यूनाधिक भी हो सकती है जब हम जातकों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो जातक का अर्थ उस कहानी से होता है जिसका एक विशेष शीर्षक है और जिसमें बोधिसत्व के जीवन की किसी घटना का वर्णन है फिर चाहे उस एक जातक में कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यों न गूँथ दी गई हों। यदि कुल कहानियों की गणना की जाए तो जातक-संख्या ३००० के आसपास पहुँच सकती है। संख्या के विषय में अभी तक अनिश्चय बना हुआ है।

भिन्न-भिन्न ग्रंथों और विद्वानों के मुख में जातक-संख्या बदलती दिखाई पड़ती है। "चुल्लनिद्देस" में यह संख्या पाचसौ कही गई है। चीनी यात्री फाहियान ने भी लंका में ईसा की पाँचवीं शताब्दी में ५०० जातकों के चित्र देखे थे। भरहुत और साँची के स्तूपों में कम से कम २७ या २८ जातकों के चित्र विकीर्ण मिले हैं। यद्यपि इनसे संख्या के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है, फिर भी जातक की प्राचीनता और विकास की सूचना तो मिलती ही है। रायस डेविड्स[1] और विंटरनित्ज[2] ने जातकों के संकलन और प्रणयन का आधार प्राचीन मध्य-देशीय जन-कथाओं को माना है। अधिकांश जातक बुद्धकालीन हैं। साँची और भरहुत के स्तूपों पर अनेक जातक-दृश्यों का अंकन उनके अस्तित्व को पूर्व-अशोक-कालीन सिद्ध कर देता है।

वर्गीकरण

रायस डेविड्स का मत है कि जातकों की रचना उत्तर भारत के अन्तर्गत मध्य देश में हुई थी। थेर-थेरी गाथाओं के समान जातक-ग्रंथ २२ निपातों में विभक्त

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १७२, २०७–२०८
२. विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, पृ० ११३–११४, १२१–१२३

है जिनको जातक के अन्तर्गत आने वाली गाथाओं की संख्या के अनुसार व्यवस्थित किया गया है। प्रत्येक आगे के निपात में गाथाओं की संख्या एक एक कर बढ़ती जाती है। पहले निपात में १५० कथाएँ और प्रत्येक कथा में एक गाथा है। दूसरे निपात में भी इतनी[1] ही कथाएँ हैं किन्तु प्रत्येक में गाथाएँ दो-दो हैं। तीसरे और चौथे निपात में ५०-५० कथाएँ और प्रत्येक में गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-चार हो गई है। आगे तेरहवें निपात में इस नियम का व्यतिक्रम मिलता है। उसमें गाथाएँ चौदह-चौदह न होकर घट-बढ़ गई है। इसी कारण उसका नाम भी तदनुकूल 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रखा गया है। इस निपात में किसी जातक में १० ही गाथाएँ और किसी में ४७ तक है। इसके बाद आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या बढ़ती गई है। बाईसवें निपात में जातकों की संख्या केवल दस है किन्तु प्रत्येक कथा में गाथाओं की संख्या सौ से भी ऊपर हो गई है। अन्तिम जातक में, जिसे "वेस्सन्तरजातक" नाम दिया गया है, गाथाओं की संख्या सात सौ से भी ऊपर है।[2]

उक्त गाथाओं में से अनेक पद्य कथाएँ (Ballads) है। कुछ गाथाएँ कहानियों में न होकर गद्य विशेष चौखटे (Frame work) में हैं। गाथाओं से अलग करके हम कहानियों को एक ऐसे रूप में देख सकते हैं जिसमें लोक कथाओं की परम्परा का निर्वाह है। यदि कुछ जातक हमें वैदिक साहित्य में ले पहुँचते हैं तो कुछ पञ्च-तन्त्र, कथासरित्सागर आदि में ले आते है। अनेक जातकों की समानान्तर कथाएँ रामायण, महाभारत, पुराण और जैन साहित्य में भी मिलती हैं। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि जातकों के उद्भव में उत्तर भारत के तत्कालीन लोक-साहित्य की बड़ी प्रेरणा रही है। इसी प्रकार जातकों से परवर्ती साहित्य को भी बहुत पोषण मिला है। "मिलिन्द पञ्ह" की उत्तरवर्ती रचनाओं में अनेक जातक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। महावस्तु में अनेक जातक गद्य और पद्य, दोनों में मिश्रित संस्कृत में भी मिलते हैं। इनमें से कुछ तो पालि-जातकों के ही परिवर्तित रूप है और कुछ पालि-संग्रहों में बिल्कुल नहीं मिलते।

१. कुछ विद्वान दूसरे निपात में जातकों की संख्या १०० मानते हैं।

२. विंटरनित्ज, हिस्टरि ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृ० ११८–११९ तथा जातक प्रथम खण्ड, पृ० २०

गद्य-पद्य का सम्बन्ध

स्थूल रूप से जातक कथा को हम दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) गाथाएँ (२) जातकट्ठकथाएँ। गाथाओं का कुछ परिचय हम पहले दे चुके हैं। उनमें जातक-कथाओं का पद्य-भाग निहित है। यह जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इसी भाग की गणना "त्रिपिटक" के अन्तर्गत की जाती है, शेष सब उसकी व्याख्या है। कहना न होगा कि जातक कथाओं की आधार-शिला गाथाएँ हैं और निपातों के अन्तर्गत गाथाओं का जो वर्गीकरण किया गया था उससे भी यह स्पष्ट होता है कि जातकों में गाथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भाषा के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गाथाओं की भाषा कथा भाग की भाषा से प्राचीनतर है। अट्ठकथा में गाथा भाग को "अभिसम्बुद्धगाथा" या भगवान बुद्ध द्वारा भाषित कहा गया है। वे बुद्ध-वचन हैं उनको त्रिपिटक का अंग माना गया है और उन्हीं को समय-समय पर त्रिपिटक से सकलित करके वर्तमान कथाओं का रूप दिया गया है। सपूर्ण जातक की विषय-वस्तु और उसके वर्गीकरण के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथाओं का मूलरूप गाथाओं का रहा है। यह ठीक है कि *जातक की सपूर्ण गाथाओं को त्रिपिटक का मूल अंश नहीं मान सकते,* उनमें पूर्वापरता रही है और जातक वर्गीकरण में भी यही स्पष्ट है। कुछ विद्वान यह अनुमान भी करते हैं कि जातक की गाथाओं अथवा गाथा-जातक की मूल संख्या निपात की संख्या के अनुकूल ही रही होगी और बाद में उसका परिवर्द्धन कर दिया गया।[१]

इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ बाद की हैं। यही लक्षण गद्य-भाग में दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ गद्य अधिक पुराना है और कुछ अपेक्षाकृत कम पुराना। ऐसे भी कितने ही जातक हैं जिनके गद्य और गाथा भाग में साम्य[२] नहीं दीख पड़ता और कितने ही ऐसे भी हैं जिनमें दोनों की भिन्नता स्पष्ट है। इस अन्त साक्ष्य के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि (१) *जातकों का संकलन किया गया,* (२) *और गाथाओं के समय में ही अन्तर* नहीं रहा, अपितु जातक कथाओं में उनके उपयोग-काल में अन्तर रहा।

१. देखिए, विटरनित्ज, इंडियन लिटरेचर, पृ० ११८
२. देखिए, विटरनित्ज, इंडियन लिटरेचर, पृ० ११६

जातक के स्थूल भाग

जातकट्ठकथा तीन भागों मे मिलती है (१) दूरेनिदान, (२) अविदूरेनिदान, (३) सतिके निदान । बोधिसत्व ने जब सुमेध तपस्वी का जन्मग्रहण कर भगवान् दीपङ्कर के चरणों मे जीवन समर्पित किया, उस समय से लेकर "वेस्सन्तर" का शरीर छोड तुषित स्वर्ग-लोक मे उत्पन्न होने तक की कथा—"दूरेनिदान" कही जाती है। तुषित लोक से च्युत होकर महामाया देवी के गर्भ से उत्पन्न हो बोधि गया मे बुद्धत्व प्राप्त करने तक की कथा "अविदूरेनिदान" कही जाती है। जहाँ-जहाँ भगवान् बुद्ध ने विहार करते समय कोई जातक कहा उन स्थानो के उल्लेख जिन ग्रथो मे है व 'सतिकेनिदान" है। समस्त जातक कथाऐं "दूरेनिदान" के अन्तर्गत आती है।

जातकट्ठकथा म अट्ठकथा सहित वास्तविक कथा प्रारम्भ होने से पूर्व 'निदान कथा' नामक एक लम्बा उपोद्घात होता है। निदान-कथा मे सिद्धार्थ गौतमबुद्ध के जीवन चरित्र के साथ उनके पूर्व २७ बुद्धो का भी जीवन चरित्र है। यह सारा का सारा 'बुद्धवस' से लिया गया प्रतीत होता है।

जातकगाथाऐं प्राचीन है इसम तो सन्देह की कोई बात ही नही, किन्तु इसमे भी कोई सन्देह नहीं कि अधिकाश जातक-गद्य भी बहुत प्राचीन हैं। 'भरहुत' और 'साँची' के स्तूप अपनी पाषाण-वेष्टानियों पर जो चित्र लिए खडे है, वे जातकगद्य मे सम्बन्धित हैं, अतएव उस गद्य की प्राचीनता इतिहाससिद्ध है। इसस हम यह अनुमान कर सकते हैं कि जातक का प्राचीन गद्याश, जिसमे सम्बन्धित चित्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उक्त स्तूपो के समय (ईस्वी पूर्व तीसरी-दूसरी शताब्दी) से पूर्व का होना चाहिए क्योकि कथा म स्थान मिलने स पूर्व उन कहानियों को लोक प्रिय बनने म भी समय लगा होगा। इस दृष्टि से स्तूप चित्रो के मूल मे निहित गद्यकथा को स्तूपो के समय से पूर्व का ही मानना होगा।

सामान्यत जातक का बुद्धकालीन भारतीय समाज और सस्कृति का प्रतीक कह सकते हैं। हा, उसम कुछ लक्षण और अवस्थाओ के चित्रण प्राग् बौद्धकालीन भारत के हैं। जहाँ तक गाथाओं की व्याख्या और उनके शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह सम्भवत जातक का सबसे अधिक अर्वाचीन अश है। इस अश के लेखक आचार्य बुद्धघोष[1] माने जाते हैं।

[1] भरतसिंह उपाध्याय पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८०

नामकरण

कुछ जातकों का नामकरण तो उनमे आई हुई गाथा के पहले शब्दों को ध्यान में रखकर किया गया है, जैसे 'अपण्णक जातक', किसी का प्रधान पात्र के अनुसार जैसे 'बक जातक', किसी का मुख्य विषय के अनुसार, जैसे 'वण्णुपथ जातक' और किसी का बोधिसत्व के जन्म ग्रहण करने के आधार पर, यथा 'कुरंगमिग-जातक', 'सगजातक' आदि। इन कथाओं का अन्तिम संग्रह अथवा संपादन किसी के भी हाथों हुआ हो, किन्तु इनकी रचना में तथा जातकट्ठकथा का वर्तमान रूप धारण करने में शताब्दियाँ लगी होंगी। जातकों का कुछ न कुछ उल्लेख तो स्थविर-वाद तथा महायान के प्राचीनतम साहित्य में है। इनकी यथार्थ संख्या कहना कठिन है। सम्भव है कि इन कथाओं में से अनेक भगवान बुद्ध के पूर्व की हों, बुद्ध ने अपने उपदेशों में इनका उपयोग कर लिया हो।

रचना-काल

त्रिपिटक में इन कथाओं में से कुछ स्वतन्त्र रूप से आई हैं। सारे त्रिपिटक का वर्तमान स्वरूप कब स्थिर हुआ, इसके बारे में कोई निश्चित बात कह सकना बहुत कठिन है। 'महावंस' के मतानुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में सिंहल राजा वट्ट-गामणी के समय अट्ठकथाओं सहित सारा त्रिपिटक लेखबद्ध हो गया था। किन्तु अनेक कथाओं को भरहुत के स्तूपों पर उनके नाम के साथ अंकित पाया गया है। इससे प्रमाणित किया गया है कि कुछ जातक कथाएँ कम से कम ईसा से पाँचवी शताब्दी पूर्व ही विरचित हो चुकी थीं और त्रिपिटक की अर्वाचीनतम कथाएँ ईसा की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् की नहीं हैं। अतः यह जातक-संग्रह कम से कम दो हजार वर्ष पुराना तो है ही।

कथा-शिल्प

विषय की दृष्टि से जातक-कथाएँ धर्म-प्राण हैं। उनमें नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण है। उनमें कर्तव्य और अकर्तव्य के साथ व्यक्ति और समाज की परि-स्थितियों का सार्वदेशिक चित्रण भी है, किन्तु व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण जो आज की कहानियों का प्राण है, उनमें नहीं है। वे व्यक्ति की परिस्थितियों को व्यक्त करती है, समाज पर आश्रित व्यक्ति का चित्रण जातकों में नहीं है। यद्यपि समाज का रूप धर्म से अलग नहीं है और व्यक्ति-धर्म का ही एक अंग है, किन्तु

व्यक्ति और धर्म ही समाज के प्रतिनिधि नहीं हैं। इनसे बहुत आगे तक समाज का प्रसार है। आज का कहानीकार व्यक्ति और समाज को एक साथ देखता है और दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को अटूट मानता है। जातक कथाओं में व्यक्ति के लिए समाज का विस्मरण ही प्रधान रूप ले बैठा है। जातक-रचयिता समाज में केवल धर्म देख सकता है, आचरण देख सकता है, व्यक्ति की परिस्थितियों और संघर्षों को समाज के वातावरण में नहीं देखता। अतएव विषय की दृष्टि से जातकों में संकीर्णता आ गई है। जातककार की वृत्तियाँ स्वतन्त्र नहीं, आबद्ध एवं सीमित हैं, उन पर कहानीकार की सीमाओं का आरोप धर्म और नीति के प्रचार का भार है। ये कथाएँ वर्गगत संकीर्णता की तुला के रूप में समग्र मानवता को तोलने में असमर्थ हैं। धर्म और नीति के घेरे में घिरी हुई साहित्यिक प्रेरणा जीवन की व्यापक एकता का दिग्दर्शन नहीं करा सकती। परन्तु आज के कहानीकार की वृत्ति का स्पन्दन स्वतन्त्र एवं शुद्ध है, उसमें जीवन और मानवता की एकता को व्यक्त करने की शक्ति है। आज के कहानीकार की वृत्तियाँ विश्व मानव की प्रतिनिधि हैं। वह किसी एक व्यक्ति के गुण-दोष को लेकर साहित्यिक लीला का संवरण नहीं करता, वरन् जीवन-व्यापी दृष्टिकोण से, जिससे वह समाज को भी देखता है, व्यक्ति को देखता है। आज का कहानीकार वैयक्तिक और क्षेत्रीय भावनाओं से ऊँचा उठकर एवं सामान्य ऊँचाई से जीवन पर दृक्पात करता है। जातकों में व्यक्ति-संस्कारों में मानव-संस्कृति के विलय करने का प्रयास है। उनका संकीर्ण लक्ष्य मानवता का संग्रह नहीं कर पाया है। इनमें मानवता अवश्य है, किन्तु उसका वृत्त संकुचित है।

जातकों का रचयिता यह देखने का ही प्रयत्न करता है कि उसे क्या करना है, यह नहीं कि वह क्या और कहाँ है। धर्म के नियत वृत्त से ही वह कर्तव्य-पथ चुनता है। वह केवल 'वर्तमान' का द्रष्टा है, किन्तु आज का कहानीकार वर्तमान की चिन्ता में ही आतुर नहीं है, अपितु वह भूत और भविष्यत् को वर्तमान से जोड़ता है। जातकों का मानव सरल है अथवा उसकी अभिव्यक्ति में सरलता है, किन्तु आज की कहानी का पात्र भौतिक जटिलता से आवृत्त है। वह बौद्धिक निर्देशों के भार से दबकर भौतिक व्यवहार के वक्र पथ पर चलता है। जातक-कहानियाँ सर्वाङ्गीण जीवन का संग्रह नहीं कर सकती हैं, किन्तु आधुनिक कहानी जीवन की सर्वदेशीयता से परिचित है। आज की कहानी के सामने विषयाभाव

नहीं है। कहानीकार कहीं से कोई विषय चुन सकता है। वह किसी गुणी या वरिष्ठ व्यक्ति को ही अपनी कहानी का नायक बनाए, ऐसी बात नहीं है। उसमें दोषों या अवगुणों का आग्रह भी हो सकता है अथवा उसकी दुर्बलताएँ उसके मानवीय व्यक्तित्व की पूरक बनती हैं। जातकों का नायक वर्गमान्य है, सर्वमान्य नहीं। उसकी संवेदनाएँ संकीर्ण हैं, मानवीय व्यापकता से आपूर्ण नहीं। जातकों का लक्ष्य पाठक तक मानवता की समग्रता की सिद्धि नहीं है, उनकी पहुँच कुछ गुणों तक ही सीमित है। मानवता की सिद्धि के साधन भी जातकों में अप्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं। आज का बुद्धिवाद सदैव अप्रत्यक्ष साधनों से सन्तुष्ट नहीं रह सकता, अतएव आधुनिक कहानी प्रायः प्रत्यक्ष पथ को अपना कर चलती है।

जातकों में जीवन की व्याख्या है, किन्तु अधूरे जीवन की, अधूरे साधनों से, क्योंकि आधुनिक दृष्टि से जातक-कालीन जीवन पूर्ण नहीं था और न साधन ही पूर्ण थे, संवेदनाओं में इतनी विविधता भी नहीं थी। उस समय व्यक्ति प्रधान था, ऐसी प्रतीति होती है, किन्तु आज की कहानी की कसौटी समाज है। अनेक प्रयोगों में विकसित होकर—स्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आदि के रूप में आज की कहानी मुक्त क्षेत्र में प्रवाहित हो रही है। और तो और, किसी कथा या घटना के बन्धन को भी तोड़ती चली जा रही है, जबकि जातक पर कथावस्तु का अनिवार्य भार था। पात्रों के व्यापारों में घटनाओं का क्रमिक अनुबन्ध ही तो कथानक है। कहानी कला के विकास के साथ कथावस्तु का स्थान गौण होता गया और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के पदार्पण एवं समादर से कथानक का रूप सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जा रहा है। कहानीकार की लक्ष्यात्मक प्रवृत्तियों से प्रेरित अनुभूतियों से ग्रथित कथानक आज इतिवृत्तात्मकता को छोड़ता हुआ एकान्ततः मनोवैज्ञानिक सत्यों के क्षेत्र में उतरता चला आरहा है। अन्ततः संघर्ष ही उसका प्रमुख पोषक है।

वस्तु और शैली

जातक कथाएं भगवान बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित हैं। उनमें बोधिसत्व की चर्याओं का वर्णन है, अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक हैं। उनका साहित्यिक रूप भी, निखरा हुआ है। विशेषता यह है कि उपदेशों के गर्भ में भी कला प्रस्फुटित हुई है। उनका रूप जन-साहित्य का है। उनमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएँ भी हैं और मनुष्यों की भी। उनके कथानक विविध प्रकार के हैं। कथानकों का

वर्गीकरण डा० विंटरनित्ज[1] ने प्रमुखत सात भागों में किया है (१) व्यावहारिक नीति सम्बन्धी कथाएँ, (२) पशुओं की कथाएँ, (३) हास्य और विनोद से पूर्ण कथाएँ, (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास, (५) नैतिक वर्णन, (६) कथन, और (७) धार्मिक कथाएँ। उनमें वर्णन शैलियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। इन शैलियों का वर्णन विंटरनित्ज ने पाँच[2] भागों में किया है (१) गद्यात्मक वर्णन, (२) आख्यान (क) सवादात्मक और (ख) वर्णन-सवाद मिश्रित (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण जिनका प्रारम्भ तो गद्य से होता है किन्तु जिनमें बाद में गाथाएँ भी पाई जाती हैं (४) किसी विषय पर कथित वचनों का सग्रह, और (५) महाकाव्य और खड काव्य के रूप में वर्णन।

कहानी-कला की कसौटी पर जातक

कहानी में यदि कला की भी कुछ कला है तो आदि और अन्त में उसकी चरमाभिव्यक्ति होनी चाहिए। आदि कुतूहल के समावेश के लिए और अन्त उसके समान उपसहार के लिए प्रथित होना चाहिए। आदि और अन्त के मध्य में कुतूहल के विस्तार रहते हैं। यदि कुतूहल के विस्तार कहानी के विकास का सहयोग नहीं देते तो कहानी-कला की हीनता समझनी चाहिए। जातकों में इस प्रकार की कला की उपेक्षा की गई है। आज की कहानी का प्रमुख साधन ही यह कला है। सब जातकों में आदि और अन्त एक से ही है। किसी भिन्नता या नवीनता के अभाव में कुतूहल वृत्ति अपहृत हो जाती है। कहने की बात नहीं कि रस निष्पत्ति का आधार ही कुतूहल है। एक-दो जातकों के पढ़ने के उपरान्त रसोद्रेक का साधन मन्द एव शिथिल पड़ जाने से जातकों का साहित्यिक मूल्य हीन हो जाता है।

वर्तमान युग में कहानी कला की दृष्टि से वही कहानी श्रेष्ठ समझी जाती है जिसे बार बार पढ़ने की इच्छा हो। घटनात्मक कहानियाँ एक ही बार में पूर्ण तन्मयता से पढ़ी जा सकती हैं। आज की कहानियों में घटनाओं तथा व्यापारों का स्थान मानव और उसके शाश्वत सघर्ष की अन्तरिक व्यजना ने ले लिया है। सघर्षमूलक घटनाएँ तो आज की कहानियों में भी हैं पर उनका सम्बन्ध मन और मस्तिष्क से होगया है। इनके विकास में कौतूहल और जिज्ञासा की तीव्रता है जो भावुकता से ऊपर उठकर बौद्धिकता के क्षेत्र में भी आगई है। वर्तमान कहानियों में

१ विंटरनित्ज हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ १२५
२ विंटरनित्ज हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ १२५

भावुकता और और बौद्धिकता का जो समन्वय मिलता है वह जातकों में नही है।

जातक कथाएँ, अलौकिक एवं अतिमानवीय घटनाओं के समावेश मे स्वाभाविकता से दूर हट गई हैं। आज के बुद्धिवादी युग में घोड़ों का उड़ना, और पशु-पक्षियों का बोलना विश्वसनीय नही है। इनसे सकेत लिया जाकता है, किन्तु मानव का स्थान इनको नहीं दिया जा सकता। आधुनिक कहानी का लक्ष्य अस्वाभाविकता के बंधन से मुक्त होकर स्वाभाविकता की समतल भूमि पर प्रतिष्ठित होना है, और उसका यह लक्ष्य बहुत कुछ सिद्ध हो चुका है। आज की कहानी रूढ आदर्शों की सीमाओं का उल्लंघन करके यथार्थ के धरातल पर प्रगतिमय आदर्शों की दुंदुभि बजा रही है।

जातकादि जैसी प्राचीन कहानियों के वाच्यार्थ के प्राधान्य को आज ध्वनि और व्यंग्य ने ले लिया है। सामाजिक विकास के साथ-साथ मानो आज की कहानी की भाषा भी हमे विकसित रूप मे प्राप्त हुई है। आज की कहानी उद्देश्य की सीमाएँ नही बनाती। यह माना कि समाज की अनेक परिस्थितियों और समस्याओं के प्रति कहानीकार का अपना दृष्टिकोण होता है जिसको साहित्य में उद्देश्य नाम से अभिहित किया जाता है। उद्देश्य की भाव-भूमि पर ही कथानक, चरित्र और शैली की अवतारणा होती है। उद्देश्य में मानव की शाश्वत वृत्तियो, अनुभूतियो और समस्याओं को आलोकित किया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उद्देश्य को आदर्श और यथार्थ दो नामो के अन्तर्गत विभक्त कर सकते हैं। जातकों में प्रचार-मूलक आदर्श की प्रतिष्ठा है और आधुनिक कहानी समस्त मानवता से भावपूर्ण चुनकर यथार्थवादी धरातल पर आ चुकी है।

जातक एवं हास्य, व्यंग्य तथा विनोद

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य के जीवन मे हास्य, व्यंग्य और विनोद का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस जगत् मे शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो किसी भी दशा में मुस्कराता न हो अथवा जिसकी वाणी मे कभी कोई ऐसी बात न मिलती हो जो औरो के विनोद का साधन बनती है। मेरी समझ मे ऐसे व्यक्ति का अनुमान करना व्यर्थ है। यदि मनीषा की गवेषणा में ऐसे व्यक्ति उपलब्ध होते तो कदाचित् हास्य को रस की उपाधि देकर उसे 'नवरस' की पंक्ति मे विभूषित न किया गया होता। यह ठीक है कि धर्म-कथाओ मे हास्य-विनोद आदि के लिए कम अवसर होता है किन्तु उनको सरस बनाने के लिए हास्य आदि

का पुट अवश्य ही दिया गया है। हास्य, व्यग्य तथा विनोद जीवन की चटनी है। ये जीवन को आस्वाद्य बनाते हैं। फिर साहित्य इनको कैसे छोड सकता है, चाहे वह धार्मिक साहित्य ही क्यों न हो।

यदि साहित्य मनुष्य को खीचता है, यदि वह पाठक की वृत्तियों को रमाता है तो वह हास्यादि की उपेक्षा नही कर सकता। श्रव्य-काव्य में इस तत्त्व की प्रतिष्ठा सवादो से अथवा चेष्टाओ और क्रियाओ के वर्णन से की जाती है जब कि दृश्य काव्य में प्रदर्शन का मार्ग भी खुला रहता है। प्रदर्शन हास्यादि को साकार कर देता है किन्तु श्रव्य-काव्य भी कल्पना के सम्बन्ध स पाठक या श्रोता के मन को प्रभावित किये बिना नही रहता। कहने की आवश्यकता नही कि कल्पना तत्त्व मानव बुद्धि की विशेषता है। यदि मनुष्य को कल्पना की शक्ति न मिली होती तो साहित्य आज इतिहास के अतिरिक्त और कुछ न होता। धर्म और शास्त्र से सम्बन्धित ये बडे बडे पोथे, ये बडे-बडे उपन्यास, ये बडी-बडी काव्य-रचनाएँ और ये छोटी छोटी कथाएँ आज हमारे समक्ष न आयी होती यदि कल्पना ने इनको अपना आधार न दिया होता। देव-देवियो के स्वरूप म, अलौकिक जीवन के तत्र मे एव लौकिक परिभावना मे कल्पना की खेला स्पष्ट है। प्रचार-साहित्य मे कल्पना के बिना काम नही चल सकता। यही कारण है कि धार्मिक साहित्य कल्पना से अधिक काम लेता है। इसी कल्पना के परिवेश म साहित्य, विशेषत धार्मिक साहित्य अपने हास्य, व्यग्य तथा विनोद के रूप को सँवारता है।

जातक को धार्मिक साहित्य ही कहा जा सकता है। उसमे प्रचारात्मक दृष्टिकोण का प्राधान्य है। इसमे सन्देह नही कि कल्पना सत्य की गभीरता को दृष्टिगोचरता मे लाकर सत्य को सरल और स्पष्ट ही नही बना देती, अपितु मोहक भी बना देती है। हास्यादि से यह मोहकता और भी बढ जाती है। साथ ही इनसे प्रभाव की शक्ति भी बढ जाती है। जातक-कथाएँ हास्य, व्यग्य तथा विनोद के पुट से अपने प्रभाव को पाठक के मन पर अक्षुण्ण रखती हैं।

इसम सन्देह नही कि जातककार का लक्ष्य अपनी मान्यताओ को पाठक के मन पर जमाना है, किन्तु लादना नही है। जितनी सरलता से उनको उसके मन पर अकित कर सकता है वह उतना ही सफलप्रयास हो जाता है। जातककार के पास अनेक अनुभूतियाँ हैं। गहरी और उथली, दोनो प्रकार की। उनका उपयोग वह उस प्रकार से तो करता नही है जिस प्रकार प्रसिद्ध हास्यकार मि० श्रीवास्तव,

क्योंकि उसके पास इस प्रकार का न हो वातावरण ही है और न उद्देश्य ही। अपने धर्म की आस्थाओं को ऊँचा दिखाने के लिए, बुद्ध की शिक्षाओं को प्रतिष्ठित करने के लिए तथा विधर्मियों की कुठाओं या नग्न प्रदर्शन करने के लिए जातककार कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, घटनाएँ या संवाद निर्मित करता है जो विनोद-प्रेरक हैं। अन्य धर्मवालों की मान्यताओं पर व्यंग्य कसना एवं उनकी भावनाओं और क्रियाओं में *मूर्खता का प्रदर्शन कर उनका उपहास करना भी जातककार के उद्देश्य का एक* अंग है। जातक-कथाओं में ऐसे उदाहरणों की बहुलता है जिनमें विनोद-प्रेरित होता है।

'सुंसुमार जातक' के इस संवाद को देखिये जो वानर की प्रत्युत्पन्न मति की प्रशंसा करता है और मकर की मोटी बुद्धि का उपहास—

"*सम्म, कथेन्तेन ते सुन्दरं कतं, सचे हि अम्हाकं उदरे हृदयं भवेय्य साखग्गेसु* चरन्तानं चुण्णविचुण्णं भवेय्या'ति। 'कहं पन तुम्हें ठपेथा'ति बोधिसत्तो अविदूरे एकं उदुम्बरं पक्कफलपिण्डसम्पन्नं दस्सेन्तो 'पस्सेतानि अम्हाकं हृदयानि एकस्मिं उदुम्बरे ओलम्बन्तीति।"

अर्थात् "सौम्य (मित्र)! तूने कहकर बहुत अच्छा किया। यदि हम लोगों के पेट में कलेजा रहे तो डालियों पर विचरण करते हुए चूर्ण-विचूर्ण हो जाए!" "तुम लोग कहाँ रखते हो?" बोधिसत्व ने समीप में एक पके हुए फल-गुच्छों से युक्त गूलर के वृक्ष को दिखाते हुए कहा—'देखो, हम लोगों के कलेजे एक गूलर के वृक्ष में ये लटक रहे हैं।' यही सार इस जातक की गाथा में भी सन्निहित है—

> "*अलं एतेहि अम्बेहि जम्बूहि पनसेहि च।*
> *यानि पारं समुद्दस्स वरं मय्ह उदुम्बरो॥१॥*
> *महती वत ते बोन्दि न च पञ्ञा तदूपिका।*
> *सुंसुमार वञ्चितोसि गच्छ दानि यथा सुखन्ति॥२॥"*

अर्थात् 'बस मुआफ करो, मुझे नहीं चाहिये ये समुद्रपार के आम, जामुन और कटहल के फल। मेरे लिए तो गूलर ही भला है।"—१

"अरे तेरा शरीर ही बड़ा है, उसके अनुरूप बुद्धि नहीं है। जाओ (बच्चू) मगर! तुम जहाँ चाहो वहाँ जाओ। यहाँ तो तुमको धोखा हो गया।"—२

इसी प्रकार 'वानरिन्द जातक' में वानर और कुंभील का संवाद भी बहुत विनोदकारी है—

"पासाणो किं परिवचन न ददसती' ति। पुनपि नं वानरो 'किं भो पासाण, अज्ज मय्हं परिवचन न देसी' ति आह। कुम्भीलो 'अद्धा अञ्ञेसु दिवसेसु अयं पासाणो वानरिन्दस्स परिवचन अदासि' ददसामि वानिस्स परिवचनन्ति चिन्तेत्वा 'किं भो वानरिन्दा' ति आह।"

अर्थात् "हे पत्थर ! क्या उत्तर न दोगे?" फिर भी उसे बन्दर ने—"पत्थर? क्या आज मुझे उत्तर न दोगे?" कहा। मगर ने—"अवश्य ही यह पत्थर अन्य दिनों बडे बन्दर का उत्तर देता था, इसका उत्तर (मैं भी) दूगा।" (यह) सोचकर कहा—श्रेष्ठ बन्दर क्या (कहते हो) ।'

'वव-जातक' म मामा भानजे का सबध भी इसी प्रकार व्यग्य-विनोद से पूर्ण बनाकर प्रकट किया गया है। 'सीहचम्म जातक' म गधे का चर्मावरण, उसकी बोली और फिर उसकी किसानो द्वारा पिटाई भी विनोदकर परिस्थितिया है।'

फिर क्या 'नच्च जातक' हास्य-मुक्त है? देखिये तो सही—पक्षियों के प्रशसा करने पर मोर का नृत्य कितना उपहास्य एव हास्यास्पद हो जाता है। वह यह कहकर—"आज भी मेरे बल को नही देखते हो!" अति प्रसन्नता मे निस्सकोच एव निर्लज्ज होकर बडे पक्षियो के समूह मे पखो को फैलाकर नाचने लगा और नाचते-नाचते नगा हो गया।"

'उलूक जातक' म भी ऐसे ही दृश्य को प्रस्तुत किया गया है। 'चम्मसाटक जातक' तो माना 'हास्य' को प्रस्तुत करने के लिए ही लिखा गया है। जिस परिस्थिति और मान्यता के साथ जातककार ने परिव्राजक को मढा के समक्ष प्रस्तुत कराया है वह व्यग्य की स्थिति है। देखिये—

"तदा एको चम्मसाटको परिब्बाजको बाराणसिय भिक्खाय चरन्तो एलकानं युज्झनट्ठानं पत्वा एलकं ओसक्कन्तं दिस्वा अपचितिं मे करोती' सञ्ञाय अपटिक्कमित्वा 'इमेसं एत्तकानं मनुस्सानं अन्तरे अयं एको एलको अम्हाकं गुण जानाती' ति तस्स अञ्जलिं पग्गण्हित्वा ठितो पठमं गाथमाह—

कल्याणरूपो वत य चतुप्पदो सुभद्दको चेव सुपेसलो च।
यो ब्राह्मणं जातिमन्तूपपन्नं अपचायती मेण्डवरो यसस्सीति॥"

अर्थात् उस समय एक चर्मशाटक परिव्राजक ने वाराणसी मे भिक्षाटन करते हुए भेडो के लडने के स्थान पर पहुच कर मढे को पीछे हटता देख—'यह मेरा सत्कार कर रहा है' यह जानकर न हटते हुए और यह सोचते हुए—"इन इतने

मनुष्यों के बीच यह एक मेढ़ा ही है जो हमारे गुण को जानता है" उसे हाथ जोड़कर और खड़ा होकर पहली गाथा कहने लगा—

"अहा! यह पशु उत्तम स्वभाव का है, सुन्दर और प्रिय आचरण वाला है, जोकि जाति और मंत्र (वेद) से युक्त ब्राह्मण का सत्कार कर रहा है। (सचमुच यह) श्रेष्ठ और यशस्वी मेढ़ा है।"

इसी प्रकार अन्य घटनाओं, परिस्थितियों और संवादों में हास्य, व्यंग्य और विनोद के अवसर सामने आते हैं। इस दृष्टि से भी जातक साहित्य के एक तत्त्व की पूर्ति करता है।

कर्म-सिद्धान्त

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि जातक-कथाएँ पुनर्जन्मवाद पर आधारित हैं। इनमें न केवल बुद्ध के अनेक जन्मों की बातें कही गयी हैं अपितु अनेक मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि के पुनर्जन्म पर भी प्रकाश डाला गया है।

कर्मों के अनुसार जन्म मिलता है। कर्मों के भोग अनिवार्य हैं। भोग समाप्त होते ही जन्म विशेष का अवसान हो जाता है। इन जन्मों के संबंध से अनेक योनियों और लोकों की बातें जोड़ी गयी हैं। जिस प्रकार पुराणों में एक-एक योनि का विस्तार कई-कई हजार वर्ष बतलाया गया है वैसे ही जातकों में भी कई-कई हजारों वर्षों की सीमाओं में एक-एक योनि को फैला कर दिखलाया गया है।

"सो एवं वत्वा तं दिवसमेव रज्जं पहाय इसिपब्बज्जं पब्बजित्वा तस्मिञ्ञेव मखादेवम्बवने विहरन्तो चतुरासीतिवस्ससहस्सानि चत्तारो ब्रह्मविहारे भावेत्वा अपरिहीनज्झाने ठितो कालं कत्वा ब्रह्मलोके निब्बत्तित्वा पुन ततो चुतो मिथिलायं येव निमिनाम राजा हुत्वा ओसक्कमानं अत्तनो वंसं घटेत्वा तत्थेव अम्बवने पब्बजित्वा ब्रह्मविहारे भावेत्वा पुन ब्रह्मलोकूपगोव अहोसि।"

इस अवतरण से स्पष्ट है कि (१) राजा मखादेव चौरासी हजार वर्षों तक आम्र-वन में ऋषियों की भांति जीवन व्यतीत करता रहा (२) और उसने मरने के बाद ब्रह्मलोक में जन्म लिया। (३) भोग पूर्ण होने पर वहाँ से भी च्युत हुआ; (४) और फिर मिथिला में निमि नामक राजा का जन्म लेकर, समय पर संन्यास लेकर, पुनः ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ। इस अवतरण में भोग-सिद्धान्त और पुनर्जन्मवाद, दोनों की स्थापना की गयी है।

पुण्यों और पापों की कल्पना से ही स्वर्ग और नरक की भावना भी जुड़ी हुई है।

भारतीय कर्मवाद का संबंध स्वर्ग और नरक से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। पुण्यात्मा को स्वर्ग और पापी को नरक के भोग भोगने पड़ते हैं किन्तु स्वर्ग और नरक का जीवन भी स्थायी नहीं होता स्वर्ग के भोग भोग कर वहाँ से भी च्युत होना पड़ता है जिस प्रकार कि महादेव के सम्बन्ध में ब्रह्मलोक से च्युत होने की बात कही गयी है।

राजोवाद जातक में पुण्यों का संबंध स्वर्गपद से जोड़ कर कर्मवाद की स्थापना की है। स्वर्ग-नरक से पुण्य-पाप के संबंधों का संकेत नहीं, स्पष्ट-निरूपण किया गया है। देखिये :—

"बाराणसि राजा × × × ओवाद दत्वा बाराणसिगन्त्वा दानादीनि पुञ्ञानि कत्वा जीवितपरियोसाने सग्गपद पूरेसि। मल्लिकराजापि तस्य ओवाद गहेत्वा जनपद परिग्गहेत्वा अत्तनो अगुणवादिअदिस्वाय सकनगर गन्त्वा दानादीनि पुञ्ञानि कत्वा जीवित-परियोसाने सग्गपदमेव पूरेसि।"

जातक प्रतिपादित पुण्यों में अहिंसावृत्ति की स्थापना है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यों में दान का बहुत महत्त्व दिखलाया गया है। 'सम जातक' में पुण्य-पाप के क्षेत्र में अहिंसा हिंसा का संकेत भी किया गया है। हिंसा के अनेक भेद हैं। उनमें प्राणाति-पात (जीवहिंसा) सबसे बड़ा पाप है। इसीलिये कहा गया है—"त्वं पन सीलवा पाणातिपातं न करिस्सासि" अर्थात् 'आप शीलवान् होकर जीवहिंसा न करना।'

चोरी सब धर्मों में गर्हित कर्म माना गया है किन्तु 'जातक' में किसी मिली हुई वस्तु को काम में लेना भी हेय बतलाया गया है।

"उद्दो मच्छगन्ध घायित्वा वालिकं वियूहित्वा मच्छं दिस्वा नीहरित्वा 'अत्थि नु खो इमेस सामिको' तिक्खत्तुं घोसेत्वा सामिकं अपस्सन्तो वल्लिय डसित्वा अत्तनो वसनगुम्बे ठपेत्वा 'वेलाय एव खादिस्सामी'ति अत्तनो सीलं आवज्जन्तो निपज्जि :"

उपर्युक्त उद्धरण का संबंध ऊदविलाव के शील से जोड़कर जातककार ने यह बताने की चेष्टा की है कि ऊदविलाव का आचरण शीलगत नहीं था इसलिये उसकी 'मांसभक्त' को ब्राह्मणवेशधारी इन्द्र ने अस्वीकार कर दिया।

'मतकभत्त-जातक' में श्राद्ध के अवसर पर की जाने वाली हिंसा का विरोध किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जीव हिंसक को एक ही योनि में नहीं, अनेक योनियों में अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। देखिये —

"एमको अत्तना कतकम्मं जातिस्सरञाणेन अनुस्सरित्वा ब्राह्मणस्स कथेसि—

'ग्रहं ब्राह्मण ! पुब्बे तादिसो व मन्तज्झायक ब्राह्मणो हुत्वा 'मतकभत्तं दस्सामि' ति एलकं मारेत्वा अदासिं। स्वाहं एकस्स एककस्स घातितत्ता एकेनूनेसु पंचसु अत्तभावसतेसु सीसच्छेदं पापुणिं।"

इससे स्पष्ट है कि जीवहिंसा का भोग एक ही जन्म में निवृत्त नहीं होता, वरन् अनेक जन्मों में जाकर पूरा होता है। इससे कर्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की भी स्थापना होती है।

जिस प्रकार अनेक पुण्यों के अनेक भोग बतलाये गये हैं उसी प्रकार अनेक पापों के भी अनेक भोग बतलाये गए हैं और जिस प्रकार पुण्यों के उत्कर्ष के अनुरूप उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार पाप-घोरता के अनुरूप नरक-विशेष की प्राप्ति होती है। कहते हैं कि अवीचि (नरक) में पकने वाले प्राणियों की दशा बड़ी करुणाजनक होती है। इस बात का संकेत हमें सुसारक जातक में मिल जाता है :—

"ते सब्बे मरणभयभीता एकप्पहारेनेव अवीचिम्हि पच्चमाना सत्ताविय अतिकरुणसरं मुंचिसु।" अर्थात् 'वे सब मृत्यु से भयभीत हो एक ही साथ अवीचि में पकने वाले प्राणियों के समान अत्यन्त करुणाजनक स्वर से चिल्ला उठे।'

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सब कुछ शून्य मानने वाले बौद्धों का पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक अथवा दुःख-सुख में पूर्ण विश्वास था। वे भोगों की कर्मों के अनुसार अनेक कोटियाँ मानते थे। हिंसा भी अनेक प्रकार की मानी गई थी और जीव-हिंसा घोर पापरूप मानी गई थी।

ऐतिहासिक सामग्री

जातकों में बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लोकविश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था आदि का हमें पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। जातक केवल कथा-संग्रह नहीं है। बौद्ध-साहित्य में उनका सर्वमान्य स्थान है। स्थविरवाद के समान ही महायान में भी उसकी प्रतिष्ठा है। हाँ, इसके रूप के सम्बन्ध में कुछ भेद अवश्य हैं। भारतीय साहित्य में तो जातक की प्रतिष्ठा है ही, विश्वसाहित्य में भी उसकी मान्यता है। सच तो यह है कि कि जातक भारतीय सभ्यता के प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय इतिहास में जातक का अद्वितीय स्थान है। जातक में प्राप्त बुद्धकालीन भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन का परिचय अपनी असं-

गिकता के कारण प्रामाणिक भी है। इतना ही नहीं जातकों में, हमें तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी सूचना भी मिलती है। जातकों में अनेक द्वीपों, पर्वतों की सीमाओं, अनेक वनों और नदियों के नाम और स्थिति पर्वतों के प्राचीन नाम, वनों की विशेषताओं और अनेक जनपदों जातियों और उनके व्यवसायों का विवरण बड़े मोहक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उस समय कौन से देशों और नगरों का वैभव था, अन्य देशों के साथ भारत के क्या सम्बन्ध थे, राजा और प्रजा में क्या सम्बन्ध थे अथवा राजाओं में संधि विग्रह की क्या परिस्थितियाँ थीं, ये सब सूचनाएँ हम जातकों में मिल जाती हैं। सामाजिक विज्ञान के छात्र के लिए ये सूचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बुद्धकालीन राजाओं, राज्यों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों आदि के साथ साथ हम जातकों से तत्कालीन शिक्षा-विधान, पाठ्य-क्रम अध्ययन-विषय और उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष, निवास, भोजन, संयम नियंत्रण आदि के विषय में भी पूरी जानकारी प्राप्त होती है। ऐसे अनेक जातक हैं जिनसे तत्कालीन व्यापार की स्थिति, क्रय विक्रय की वस्तुएँ, व्यापार या आवागमन के मार्ग दास प्रथा, सुरापान, यज्ञ में जीव हिंसा, व्यापारिक संघ, चोर डाकुओं का भय, शिल्पकला आदि का प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है।

जातककालीन समाज

हम जातकों में समाज के तत्कालीन रूप के अवगत करने एवं साहित्यिक विकास और भाषा विज्ञान का इतिहास तैयार करने में बड़ी सहायता मिलती है। जातकादि प्राचीन कथाओं में अनेक ऐसे शब्द और मुहावरे, जिनको हम समय और परिस्थितियों के विकास के गर्भ में खो बैठे हैं और जिनके स्थान पर विदेशी शब्दों से काम निकालने के लिए विवश होना पड़ रहा है, हम सहसा मिल जाते हैं। अर्हत्, नियामक प्रदर आदि ऐसे ही शब्द हैं जो आज हमारे बड़े काम के हो सकते हैं।

उस समय राजा सामाजिक भवन का शिखर था, फिर भी आधार समाज ही था। समाज में प्रजातन्त्रीय भावनाओं का समादर था। बड़े-बड़े मामलों में राजा को प्रजा की सम्मति लेनी पड़ती थी। महाराज-पद उपराज पद के बाद की सीढ़ी थी। महाराज-पद एकदम विशेष परिस्थितियों में ही मिल सकता था। प्रजा को

अपना राजा चुनने का अधिकार था। गुणों की परीक्षा करके ही प्रजा-जन राजा चुनते थे। विद्या, धर्म और सदाचार राजा के लक्षणों में से प्रमुख होते थे। सुशील एवं प्रजाप्रिय राजा ही सर्वमान्य हो सकता था। राजा के गुणों की घोषणा खुली सभा में की जाती थी और प्रत्येक सभासद को अपनी सम्मति व्यक्त करने का अधिकार होता था। जिस राज्य में जितने कम मुकद्दमे न्याय के निमित्त आते थे वह उतना ही अच्छा राज्य समझा जाता था। ऐसे नृपति को 'उत्तम नरेश' की संज्ञा प्रदान की जाती थी।

राजा के अनेक वाहन होते थे उनमें से प्रमुख घोड़ा, हाथी और रथ थे। राज-दरबारों में वाहन-विशेषज्ञ होते थे और उनकी सम्मति से ही राजवाहन स्वीकृत होते थे। राज-वाहन को 'मंगलवाहन' की अभिधा से सम्मानित किया जाता था।

राजा के आसन अनेक प्रकार के होते थे। जहाँ स्वर्ण और रत्नों के आसन होते थे वहाँ 'शिलासन' और 'दर्भासन' का भी सम्मान होता था। 'शिलासन' और 'दर्भासन' राजा की सरलता के चिह्न थे।

सामान्यतः ब्राह्मण-लोग अध्यापन-कार्य करते थे। आश्रमों में अन्तेवासी-प्रथा थी और शिक्षक और शिष्य में गहन-सम्बन्ध होता था। कुछ नगर शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। उनमें तक्षशिला प्रमुख था।

परिव्राजक और श्रमण भी समाज के अंग थे। धर्म-भेद तीव्र था। विधर्मियों के आचरण का उपहास तक किया जाता था। वर्ण-भेद भी प्रखर था और वह सामाजिक कटुता का एक कारण था, किन्तु धर्म-भेद उससे भी अधिक भयंकर था। धर्म दुराग्रह तक अपना लेता था, ऐसे अनेक संकेत जातकों में मिल जाते हैं। इससे उदार मानवीय भावनाएँ न केवल उपहास को प्राप्त होती थीं, प्रत्युत उनका ह्रास भी होता था।

उदर-पोषण के अनेक साधन थे। अनेक व्यवसायों से जीविका का अर्जन किया जाता था। कितने ही ऐसे उद्योग-धन्धे जो समाज में आज प्रचलित हैं, उस समय प्रतिष्ठित थे। प्रमुख व्यवसाय कृषि, गोपालन और व्यापार थे, किन्तु राज-सेवा भी जीविकोपार्जन का साधन थी। लोग प्रायः पैतृक व्यवसायों को ही अपनाते थे, किन्तु कभी-कभी व्यवसाय-परिवर्तन भी हो सकता था। इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे यद्यपि परंपरा का आग्रह अवश्य होता था।

व्यापार जल-थल दोनों मार्गों से होता था। यहाँ के व्यापारी जल-मार्ग से

विदेशों से भी व्यापार करते थे। समुद्रों में नौका द्वारा आवागमन होता था और यहाँ के बहुत से नाविक बड़े कुशल हुआ करते थे। वे समुद्र के मर्म को जानते थे और अवलोकनमात्र से सागर के रहस्य का उद्घाटन कर देते थे। रजत, स्वर्ण और रत्नों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों का भी व्यापार होता था। क्रय-विक्रय में 'कहापण' (कार्षापण) नामक मुद्रा का व्यवहार होता था। यहाँ के लोग अच्छे रत्न-पारखी थे और किस सागर में कौन-से रत्न मिलते हैं, इस बात का यहाँ के व्यापारियों को सम्यक् ज्ञान था। जलयानों पर निपुण निर्यामक रखे जाते थे जो अपनी कुशलता से अनेक संकटों से उनकी रक्षा कर लाते थे।

व्यापार के स्थलीय साधनों में गधा प्रमुख था। बनिये लोग भी गधा रखते थे। गधे का सम्मान उस समय भी नहीं था, फिर भी प्रसिद्ध भारवाही वही था। उसके चारे आदि की व्यवस्था उस प्रकार नहीं की जाती थी जैसे घोड़े आदि की। उसे प्रायः छोड़ दिया जाता था और वह बिचारा इधर-उधर चर कर अपना पेट भर लेता था। उस समय भेड़ और बकरियाँ भी पाली जाती थी और मांस का क्रय विक्रय भी होता था।

पक्षियों को बोलने और नाचने की शिक्षा भी दी जाती थी। नाविक लोग शिक्षित कौआ रखते थे जिसे वे समुद्र में होने पर दिशा जानने के लिए छोड़ देते थे और वह तट की ओर उड़कर दिशा की सूचना दे देता था। वह 'दिशाकाक' कहलाता था। जिस प्रकार आज पशु-पक्षी सिखाये जाते हैं वैसे ही पहले भी सिखाये जाते थे और उनकी शिक्षा का प्रदर्शन भी होता था। मोर आदि पक्षी संकेत पाते ही नृत्य आदि में संलग्न हो जाते थे। पशु पक्षियों के पालन में उपयोगिता को ही ध्यान में नहीं रखा जाता था, अपितु लोगों की रुचि (शौक) भी महत्व रखती थी।

सागरों, नदियों और पर्वतों के अलग-अलग नाम थे और नाम उनके गुण दशा अथवा स्थिति के आधार पर रखे जाते थे। क्षुरमाली, अग्निमाली, दधिमाली आदि नाम समुद्रों के लिए प्रचलित थे। संभव है ये नाम लोक-कथाओं में ही प्रचलित रहे हों।

उस समय पंचायत-प्रथा थी। उसका स्वरूप जातीय एवं सामाजिक, दोनों प्रकार का होता था। सामाजिक पंचायतों को सभा कहा जाता था। समाज के सार्वजनिक कार्य सभाओं में निर्णीत होते थे। उपसभाओं अथवा वर्गीय सभाओं का भी बड़ा महत्त्व था। सभाओं में सभ्य नियमों का अनुपालन अनिवार्य धर्म था।

कन्याएँ सभाओं में अपना वर चुन सकती थीं। समाज में कोरे रूप का समादर नहीं था, शील रूप का आवश्यक सहचर माना जाता था और शीलविहीन रूप हेय समझा जाता था।

समाज के दुर्बल पक्ष में धूर्तता, प्रवंचना, दंभ, अकृतज्ञता, चौर्य आदि की अनेक कलाएँ और प्रथाएँ प्रचलित थीं। 'पेसनक' (प्रेषणक) नामक चोरों की अपनी पद्धति थी। वे दो आदमियों को पकड़कर एक को धन लाने के लिए भेज देते थे। पिता-पुत्र को पकड़कर पिता को, बड़े-छोटे भाइयों को पकड़कर बड़े भाई को और गुरु-शिष्य को पकड़कर शिष्य को धन लाने के लिए छोड़ देते थे, इसीलिए वे प्रेषणक या 'पेसनक' कहलाते थे। जिस प्रकार पुरुष समाज में दुष्टों का अभाव नहीं था, उसी प्रकार नारी-कलंक कुलटाओं का अभाव भी नहीं था।

खाद्यों में मूँग, तिल, चावल, जौ, खिचड़ी, भात आदि का नाम अधिक प्रमुखता से आया है। भात और यवागू अतिथियों को दिये जाते थे। मांसाहार का समाज में प्रचलन था। श्राद्धों तक में मांस अर्पित किया जाता था। बौद्ध लोग हिंसा के विरोधी थे, किन्तु उनमें भी कुछ लोग मांसाहारी होते थे; ऐसे कुछ संकेत जातकों में मिलते हैं, किन्तु उन लोगों को हेय समझा जाता था। उस समय मृग, शशक, मत्स्य, गोधा, छाग आदि का मांस अधिक पसंद किया जाता था। मांस को भूनकर खाने की भी प्रथा थी। बहेलिए लोग शिकार की खोज में जाल लिये हुए इधर-उधर फिरा करते थे जिनके जाल चमड़े की पतली पट्टियों के बने होते थे। श्राद्धों के अवसर पर प्रायः बकरे काटे जाते थे।

समाज में कुछ विशेष मान्यताएँ थीं। लोगों के मन पर यक्षिणी आदि का भ्रम आरूढ़ था। शकुन अपशकुन में उनका विश्वास था। कार्यवश घर से बाहर निकलते समय कुछ पशु-पक्षियों का दर्शन हेय समझा जाता था।

बोधिसत्त्व में अनेक अलौकिक गुणों की कल्पनाएँ की गयी थीं। पुण्य-पाप और स्वर्ग-नरक में लोगों की अटूट आस्था थी। लोग पुनर्जन्मवाद और नियतिवाद में विश्वास करते थे। अहिंसा के प्रतिष्ठान से प्रतिवादिता की भावना प्रतिहिंसा से नितान्त मुक्त नहीं थी। कर्म का भोग अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें लोगों का पूर्ण विश्वास था।

ये कथाएँ प्रमुखता से नीति, आचरण और धर्म से संबंधित कथाएँ हैं किन्तु इनमें हास्य, व्यंग्य और विनोद का अच्छा पुट है। बहुत संभव है कि जातककार

का लक्ष्य इन कथाओं को रोचक बनाकर प्रस्तुत करना भी रहा हो अन्यथा जामुन के वृक्ष पर कलेजे के लटकने की, मामा और भाजे की, सिंह चर्म मे गधे की आवृत्ति आदि की बातो का रागावेश कोई विशेष अर्थ नही रखता। धर्म और आचरण के प्रसगों मे ही सामाजिक जीवन की जितनी झाँकी मिल गयी है सो मिल गयी, अन्यथा सामाजिक जीवन के चित्रण का कोई प्रयत्न इन कथाओं मे नही दिखाई पडता। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि इन कथाओं मे नीति और आचरण की दन्तकथाओं मे पिरोकर मानव-उरों पर उत्कीर्णित करने का प्रयत्न इतर हृदयो मे कितनी सरसता और शीतलता ला सका है, यही जातकों की साहित्यिक कसौटी है।

आधुनिक कहानी और जातक

आधुनिक कहानी हमको सहसा प्राप्त नही हो गयी है। उसका क्रमिक विकास जीवन की अनेक उलट-फेरों मे गुजरकर हुआ है उसमे अनेक प्रयत्नो और साधनाओं की शक्ति निहित है। अनेक प्रयोगों की स्वीकृति-अस्वीकृति मे होकर आधुनिक कहानी हम तक आयी है। अभिव्यक्ति और उसके विधान के इतिहास मे साहित्य के अन्य रूपों की भाँति कहानी का जन्म भी टँका हुआ है। सौन्दर्य-भावना जैसे बढ़ती और निखरती गई, कहानी-कौशल और शिल्प-विधि का परिमार्जन और परिष्कार भी होता चला गया। आधुनिक कहानी उस सबका समन्वित परिणाम है।

यह तो हम सब जानते है कि अपनी या दूसरे की बात कहने की प्रवृत्ति हमारी आज की प्रवृत्ति नही है, वह तो मानव-भारती के जन्म-काल से ही चली आ रही है। जीवन के विकास के निमित्त मानव की प्रयत्नशीलता, पशवर्ती अन्तराय एव संघर्ष कहानी के विकास-क्रम मे निहित हैं। कहने की आवश्यकता नही है कि कहानी का इतिहास मानव-सभ्यता के विकास का ही इतिहास है। यदि कहानी की खोज से लेकर युग तक के इतिहास मे देखे तो मानव-सभ्यता का इतिहास हमारी आंखो के सामने आ सकता है। मानव की रुचि, प्रवृत्ति, भावना, विचार-परम्परा, नैतिक दृष्टि एवं संस्कार-वृत्ति के पीछे एक बड़ा इतिहास है जिसमे युग-युगान्तर के व्यापक प्रयासों के स्पन्दन निहित हैं, जिसमे जीवन की अनेक रेखाएँ अपने अपने चित्र प्रस्तुत करती दिखायी देती है। कहानी के विकास क्रम से इन सबको हम टटोल सकते है, खोज सकते है। वेदो से लेकर आज तक कहानी शिल्प और शैली ने, न जाने, कितने मोड लिए होंगे और, न जाने, कितने अतीत के गंभीर गर्भ मे विलीन

हो गये होंगे; जो हम तक आ सके हैं वे भी न जाने कितने परिवर्तनों की ठोकर खाये हुए हैं।

कहानी-कला की दृष्टि से देखा जाए तो ब्राह्मण-ग्रन्थों तक वह अपने बीज-रूप में ही उपलब्ध होती है। वस्तु-वर्णन की प्रधानता स्पष्ट है। पात्रों का समावेश किसी अनुष्ठान का वर्णन तथा महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए है। पात्र या तो देव और गन्धर्व वर्ग के हैं अथवा ऋषीय एवं राजवर्गीय हैं। कहानियां लौकिक-स्तर से ऊपर उठी हुई हैं। जन-साधारण से सम्बन्धित तथा उनकी दैनिक समस्याओं को हल करने वाली कहानियों का रूप हमें यहां नहीं मिलता।

आरण्यक और उपनिषद एक ही विचार-परंपरा को प्रदर्शित करते हैं। दोनों में कर्म-काण्ड की महत्ता के आगे दार्शनिक तत्त्वों को प्राधान्य दिया गया है। चिन्ता के क्षेत्र में संहिताओं में निक्षिप्त तथा ब्राह्मणों में उद्गत बीज उपनिषदों में उदाहरणों के रूप में अंकुरित होकर दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करता है।

उपनिषदों में अनेक चिन्तन-तत्त्वों के प्रतिपादन के लिए उपाख्यानों का आश्रय लिया गया है जो गद्य और पद्य, दोनों में मिलते हैं। कहीं-कहीं इनका रूप गद्य-पद्य मिश्रित भी है। इनकी भाषा सरल और ऋजु है, भाव-प्रकाशन शैली सुगम और भाव-प्रणाली गंभीर है। यहां भी आख्यायिका का आदिम अविकसित रूप ही मिलता है। फिर भी विकास के पूर्व की अनेक दशाएं द्रष्टव्य हैं।

पहली दशा वह है जिसमें कहानी किसी प्रसंग अथवा दृष्टांत रूप में कही गयी है। दूसरी दशा में वह किसी तत्त्व सिद्धि की अभिव्यक्ति करती है जिसमें अन्न, विजय आदि के लाभ के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। तीसरी दशा में कहानी ने संवाद का रूप ले लिया है और इस दशा में उसका प्रश्नोत्तर रूप भी मिलता है।

इन आख्यानों में हमें प्राचीन भारतीय सभ्यता, तत्कालीन वातावरण, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय भी मिलता है। इनसे लक्षित होता है कि प्राचीन काल में भारत में विद्वान् पूज्य समझा जाता था। राजा लोग विद्वान होने के साथ साथ ऋषियों का समुचित आदर करते थे। इसके अतिरिक्त इनमें हमें गुरु-शिष्य-भावना, विद्या-रुचि तथा शिष्य के त्याग और विनय का परिचय भी मिलता है। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि उपनिषदों में कहानी अपने बीज-रूप में ही प्रतिष्ठित है। कथावस्तु के क्रमिक विकास का अभाव,

रस एव कथावस्तु की अस्थिरता, आख्यायिका मे अनुरूप तीव्र सवेदना की अनुपस्थिति, पात्र-वैविध्य एव चरित्र-चित्रण की न्यूनता प्राय सभी आख्यानो से प्रकट होती है। यदि सहितावालीन उपाख्यान की विशेषता रूपक है तो ब्राह्मण-कालीन कथा का वैशिष्ट्य अतिशयोक्ति है। उपनिषदो के आख्यानो मे व्याख्यात्मकता आ जाती है। यह भी कहानी के अकुर की पूर्वावस्था ही है।

पुराणो मे कहानी ने अकुरण प्राप्त किया है। विकसित आख्यान धार्मिक और मानसिक स्तर के परिचायक हैं। कही गद्य ने भी पद्य-कथाओ का पोषण किया है। यहाँ तक आते आते आख्यायिका, कथा आदि नामा ने कहानी की अभिधा मे अनेक रग बदले है।

पुराणो की कथाओ मे वस्तु-वर्णन का प्राधान्य मिलता है। उनमे इतिहास, कल्पना और धर्म, तीनो का पुट है। पात्र व्यक्तित्व विशिष्टि होते हुए भी विकसित चरित्र से वचित है। पात्र के जिन गुणो का प्रदर्शन वक्ता द्वारा प्रारम्भ मे किया जाता है उन्ही की पुष्टि का प्रयास विविध प्रसगो द्वारा बाद मे भी किया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणो मे कहानी का आधुनिक रूप तो नही, किन्तु उपनिषदों की अपेक्षा अधिक विकसित रूप अवश्य मिलता है। इसमे पुराणो से प्रेरित होने वाले साहित्य को एक निश्चित उद्देश्य-सम्बन्धी इगित और प्रेम की अपेक्षा श्रेय को अधिक महत्त्व देने की परम्परा प्राप्त होती है। सघर्ष का प्रदर्शन, चरित्र की स्पष्टता और श्रेय की] स्थापना पौराणिक कथाओ की विशेषताए हैं। पौराणिक कहानियो का आधार रामायण और महाभारत भी रहे हैं। रामायण की रचना बुद्ध[1] के जन्म मे पहले हुई अर्थात् रामायण को ईसा पूर्व पाच सौ वर्ष की रचना मानना ही उचित है। महाभारत भी बुद्ध के पहले की रचना है, परन्तु उसे वर्तमान रूप बुद्ध[2] के बाद प्राप्त हुआ।

रामायण और महाभारत मे प्रसूत पौराणिक कथाओ को जो रूप मिला उनमे कल्पना के पुट ने कुछ रगीनी पैदा कर दी है किन्तु तत्कालीन समाज के उस समय की रीति-नीति का परिचय अवश्य मिलता है। अलौकिक तत्त्व ने इन कथाओ को सवलता एव विविधता प्रदान करके भी विश्वास और श्रद्धा की सीमाओ मे आबद्ध रखा है। जीव और जगत् मे दीखनेवाली भावना पुराणकार को एक अदृश्य

१. देखिए, बलदेव उपाध्याय गौरीशकर उपाध्याय ' सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४५

२ देखिए, बलदेव उपाध्याय गौरीशकर उपाध्याय : सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५७

सत्ता के रूप में भी दिखाई पड़ती है। कर्म और भोग जीवन-मरण के कारण बनकर मुक्ति की इच्छा से संयम को प्राप्त होते हैं। कर्म के साथ ज्ञान और उपासना का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है किन्तु पुराणों में उपासना का स्वर ही प्रथित और उच्च दिखाई पड़ता है और उपासना के मूल तत्त्व हैं श्रद्धा और विश्वास। नैतिक और धार्मिक मान्यताओं में ही इन कथाओं में, जीवन की झाँकी दिखाई गई है। *व्यवहार की जो झलक इनमें दी गई है धर्म के रूप में दी गई है।* इससे तत्कालीन जीवन की धर्म प्रधानता का भी विद्योतन होता है। कोरा जीवन, जिसे हम लोक-जीवन या सामान्य जीवन कह दें तो अधिक उपयुक्त होगा, इनमें दुष्प्राप्य है। पुराणकार व्यवहार को धर्म और नीति के परिवेश में देखता है, सामान्य रूप में मनोविज्ञान के धरातल पर देखने की चेष्टा नहीं करता।

जातक कथाओं का धार्मिक परिवेश भी कुछ इसी प्रकार का है। वरन् खंडन-मंडन और परिहास की प्रवृत्ति इनमें कुछ अधिक उदग्र बन गई प्रतीत होती है। *छोटे आकार में प्रचार की प्रवृत्ति, धार्मिक आग्रह, बहुजन्मवाद की प्रतिष्ठा और* कर्म-बंधन ने जातककार की निष्ठा को जो अधीनता स्वीकार की है, उसमें अवश्य ही कला-कौशल है, किन्तु जातक आज की कहानी के विधान को देखकर चकित हुए बिना नहीं रह सकता।

शिल्पविधान के इतने रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं कि वे हमें विस्मित कर देते हैं। एक ही अनुभूति या एक ही भाव की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है। अनेक तत्त्वों में विलसती हुई अनुभूति जिस प्रकार कहानी के कलेवर में ढलती जाती है, वही कहानी की 'टैकनीक' है। दूसरी ओर एक निश्चित लक्ष्य अथवा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जो एक विधानात्मक प्रक्रिया उपस्थित की जाती है वही उसकी शिल्प-विधि है। इस तरह सृजन की दृष्टि से कहानी की प्रेरणा दो पक्षों में आती है—अनुभूति और लक्ष्य। कहानी की सृष्टि में अनुभूति की प्रेरणा तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए एक अनुरूप लक्ष्य की कल्पना करनी पड़ती है। इस रूप विधान में *कहानी के ये तत्त्व स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं* :—(१) कथा-वस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) देशकाल और वातावरण, (५) शैली, और (६) उद्देश्य। इन तत्त्वों की दृष्टि से आधुनिक कहानी जातकों से एकदम भिन्न है। टैकनीक के अतिरिक्त दोनों में विषयगत अन्तर भी है। भारत का प्राचीन कथा-साहित्य वैदिक भाषा, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक

भाषाओं मे बहता चला आ रहा है। कथा की कला ने विभिन्न भाषा-युगो मे अपनी विभिन्न विशेषताओं के साथ विशेषता प्राप्त की है। यद्यपि आज के युग म प्राचीन कहानियाँ कहानी-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं मानी जाती किन्तु विकास-स्रोत तथा समय की दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है। विकसित दशा मे भी वस्तु के विकास स्रोत को भुलाया नही जा सकता। ऋग्वेद के प्रासगिक बीजो म पीछे की अनेक कहानियो का उद्गम निहित है। उपनिषदों के प्रसग किसी दार्शनिक तत्त्व के प्रतिपादन के लिए है। पुराणो की कथाएँ दार्शनिक तत्त्वो का सवरण करती हुई भी भावलोक की ओर मुडती है। उनमे श्रद्धा और विश्वास की भाव-भूमि पर आचरण की शिक्षा दी गई है। इन कथाओ के विस्तार और प्रसार से लोक-रुचि म कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। वैदिक कथाओं का लक्ष्य विशुद्ध धार्मिक था। उपनिषदो मे कथाओं की मुख्य सवेदना अध्यात्म प्रतिपादन रही और पौराणिक कथाओ मे चिन्ता, भाव और क्रिया के समन्वित रूप से लौकिक जीवन का उत्कर्ष अलौकिक सिद्धियो तक प्रतिष्ठित हुआ। इन कथाओ मे व्यक्ति धर्म और समाज धर्म ने घनिष्ठता प्राप्त की। धर्म के गर्भ से लोक-नीति और राजनीति का विशद रूप प्रकट हुआ।

पालि साहित्य मे कथाओं का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता गया और कथाओं द्वारा धर्म प्रचार की प्रवृत्ति अधिक प्रस्फुटित हुई। जातक कहानियाँ बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लिखी गई। जातको द्वारा 'बौद्ध' धर्म के तत्त्वो का प्रभाव रहा है। प्रथम तो साहित्य-सृजन की प्रेरणा का ही अभाव है, क्योंकि जातक कथाएँ वर्गगत धर्म सिद्धान्तो का विश्लेषण करने के लिए लिखी गई हैं, अत इस साहित्य को हम प्रयासजात ही कहेगे। प्रयासजात साहित्य मे स्वाभाविकता दब जाती है और कृत्रिमता प्रधान रूप धारण कर लेती है। अतएव साहित्य का लक्ष्य-जीवन का स्वरूप बाधित हो जाता है। इसके अलावा प्रचारात्मक साहित्य का मूल्य केवल सामयिक हो सकता है, उसका प्रभाव अबाध एव अक्षुण्ण नही रहता। साहित्यकार की प्रेरणा विभागीयता, वर्गीयता और क्षेत्रीयता से ऊपर सम्पूर्ण मानवता से ओतप्रोत होनी चाहिए। वह धर्मोपदेष्टा न होकर लोक-सग्रहकर्ता और मानवता प्रशसी होता है।

जातक का महत्व

जातक कथा-साहित्य ससार के कथा-साहित्य मे प्राचीन सग्रह ही नही, सबसे

बड़ा भी है। ऊपर कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में जातक की प्रतिष्ठा है। महायान और हीनयान को जोड़ने के लिए तो मानों जातक एक कड़ी है। अन्यत्र उल्लिखित जातक-सम्बन्धी चित्रों से यह अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धकाल में जातक-कथाएँ बहुत लोकप्रिय थीं। बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों में उनका बड़ा महत्व है। अतएव उनकी प्रतिष्ठा भारत में ही नहीं, विदेशों में भी हुई। उसने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया और जातक-कहानियों द्वारा बुद्ध-वचन अन्य देशों और वहाँ के साहित्यों में पहुँचे। लंका, बर्मा, स्याम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि देशों में पहुँचकर जातकों ने वहाँ की स्थापत्य-कला को भी प्रभावित किया। पश्चिम में जातक कहानियाँ अरब और यूनान तक पहुँचीं। चाहे वे संस्कृत-साहित्य के माध्यम से गई हों चाहे स्वतन्त्र रूप से। यहाँ तक कहा जाता है कि ईसप और अलिफलैला तक की कहानियाँ जातकों के प्राणों से अनुप्राणित हुई। यह सब यूनान और अरब के साथ भारतीय सम्बन्धों के कारण हुआ। यूरोप के फ्रांस, स्पेन, इटली आदि देशों की कहानियों पर जातकों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। फ्रांस के मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षियों से सम्बन्धित जो कहानियाँ मिलती हैं उनके मूल में जातक-कथाओं की प्रेरणा है। फ्रेंच विद्वानों ने, कहते हैं, जातक-प्रभाव को स्वीकार भी किया है। इतना ही नहीं अनेक ईसाई सन्तों के जीवन में महात्मा-बुद्ध की सरलता और पावनता का अधिकांश श्रेय बौद्ध धर्म को है। यूरोप में इसके प्रसार का गौरव प्रमुखतः जातकों को दिया जाना चाहिए। बाइबिल की अनेक कहानियों में जातकों की सुगन्ध आती है। इसमें भारत और भारतीय साहित्य के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि जातक-कथाओं ने विश्व-जीवन और साहित्य में अपने प्राणों का प्रसार किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जातक-कथाओं ने भारतीय साहित्य को अपना अमित सहयोग दिया है। उन्होंने भारतीय साहित्य की सेवा दो प्रकार से की: एक तो वैदिक साहित्य में मिलनेवाली बीज रूप सामग्री को कला और कल्पना के सहयोग से फैलाकर विस्तार दिया तथा अनुश्रुति को कला और नीति-धर्म के योग से म-बद्ध किया; दूसरे "पंचतंत्र" जैसी अनेक कथाओं को जातक-कथाओं ने धर्मीय प्रेरणा देकर साहित्य की अभिवृद्धि की। जातक-कथाओं की इस प्रवृत्ति को देख-

कर जर्मन विद्वान् लूडर्स[1] ने "जातक" को वैदिक आख्यान और मध्ययुगीन काव्य को मिलानेवाली कडी कह दिया। 'सेतकेतु' जातक में आनेवाली गाथाओं से इस तथ्य की पुष्टि हो सकती है।

उपयोगिता की दृष्टि से भी जातक अपना परम महत्व रखते है। जितना जातक-साहित्य का विस्तार है, उतनी ही उनमें उपदेशपरकता और मनोरंजकता भी है। मानव-जीवन का कोई पहलू इन कथाओं से अछूता बचा प्रतीत नही होता। यही कारण है कि पिछले दो हजार वर्षों से जातक-कथाएँ मनुष्य समाज को किसी न किसी रूप मे प्रभावित करती आई है।

किसी भी जाति का काम केवल परलोक परक होने से नही चल सकता। भगवान बुद्ध ने इहलोक तथा परलोक की चिन्ता में समत्व स्थापित किया। यही कारण है कि जातक कथाओं को बौद्ध साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला और उनका विकास हुआ। जातक साहित्य जन-साहित्य के सच्चे अर्थों मे जनता का साहित्य है। इसमे हमारे उठने-बैठने, खाने-पीने, ओढन-बिछाने की साधारण बातो से लेकर हमारी शिल्पकला, कारीगरी व्यापार-चर्चा के साथ हमारी अर्थ-नीति राजनीति तथा हमारे समाज के संगठन का विस्तृत इतिहास भरा पडा है। यही नही,उस युग के भूवृत्त की भी पर्याप्त-सामग्री है—विशेषत उस युग के जलमार्गों तथा स्थल मार्गों की।

भारतीय जीवन का कोई पहलू ऐसा नही जिसका लेखा इन कथाओं मे न मिलता हो। भविष्य मे हमारा इतिहास राजाओं के जन्म मरण की तिथियों का लेखा मात्र न रहकर जनता के जन्म-मरण के इतिहास के रूप मे यथार्थ ढंग से लिखा जाने को है तो प्राचीन काल के वैसे इतिहास के लिए इन कथाओं का मूल्य बहुत ही अधिक है। यदि मनोरंजन के साथ-साथ उपदेश ग्रहण करना हो, यदि हृदय को उदार तथा शुद्ध बनानेवाली कथाओं के साथ-साथ बुद्धि को प्रखर करनेवाली कथाएँ पढनी हो, यदि अपने देश की प्राचीन आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था से परिचित होना हो तो जातक से उत्तम दूसरा साहित्य नही है।

---

[1] देखिए विंटरनित्ज इंडियन लिटरेचर, पृ० १२३, पदसंकेत २—(एक उदरण) "Connecting link between the Vedic epic आख्यान and the epic poetry."

जातक-धर्म और उसकी लोक-प्रियता

बौद्ध धर्म-साहित्य में जातकों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रमाण यह है कि उनको नौ अंगों में, जिनमें कि बौद्धों की पवित्र धर्म-पुस्तकें विभक्त हैं, सातवाँ स्थान दिया गया है। विश्वास, विरक्ति, परोपकार और आत्म-बलिदान श्राद्धों की व्यर्थता, भूत-प्रेत-भावना, कर्मफल, नीति, जीव-बलिदान-विरोध, नारियों की दुश्चरित्रता, मद्यपान-निंदा, गर्व-निरोध, सुधार, अत्याचार और उसका प्रभाव, कर्म-औचित्य, वीरता, धैर्य और सहिष्णुता, पश्चात्ताप, ईर्ष्या और हत्या का परिणाम, नरक-भय, मूर्खता का फल, साधुओं का साथ, दुर्व्यवहार का फल, मनुष्य के पतन में नारी का स्थान, शक्र (इन्द्र) और उसकी ईर्ष्या, मानव-मांस-भक्षण और उसका विरोध, सदाचार और उसका मूल्य, धीरता और उसका परिणाम आदि जातकों के विषय हैं।

बौद्ध धर्म के इतिहास के सम्बंध में जातक बड़े मूल्यवान सिद्ध हुए हैं क्योंकि लोकप्रिय बौद्ध धर्म का उनमें हमें परिचय मिलता है। जातकों की समग्र व्यवस्था लोक-प्रिय कर्म-सिद्धान्तों पर आधारित है और इस धर्म का चारित्रिक आदर्श निर्वाण प्राप्त करने वाला नहीं अपितु वह बोधिसत्व है जिसके पूर्व जन्म के एक या अनेक सद्गुणों ने उसे आगे बुद्धत्व की ओर प्रेरित किया। बोधिसत्व चाहे कितने ही ऊँचे या नीचे कुल या अन्य किसी योनि में उत्पन्न हुए हों, उनको प्रत्येक जातक में सहानुभूतिपूर्ण, दयालु, आत्मत्यागी, वीर, चतुर और अलौकिक ज्ञान से युक्त चित्रित किया गया है। इतना ही नहीं, पारमिता-सिद्धान्त, जो बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध हो गया, जातकों में बीज-रूप में देखा जा सकता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि महायान सम्प्रदाय में जातकों का उतना ही सम्बंध है जितना हीनयान सम्प्रदाय से। सच तो यह है कि जातक सभी बौद्ध देशों में बौद्ध-सम्प्रदायों की सामान्य निधि हैं। बौद्धमत के प्रचार प्रमुख वाहन और लोकप्रिय बौद्ध धर्म के प्रमुख साक्षी जातक ही रहे हैं। यह ठीक है आज हमारे पास सम्पूर्ण जातक सुरक्षित नहीं हैं। राइज डेविस तो यहाँ तक मानते हैं कि आदि के दस जातकों के पूर्व रूप में अर्थात् पूर्व जातक रूप, बौद्ध-साहित्य से पहले भी उनके इतिहास की खोज कर सकते हैं। बौद्धों के चारित्रिक दर्शन के अनुरूप ही उनमें परिवर्तन कर दिये गये हैं। उदाहरण के रूप में हमें 'महासुदस्सन' को ले सकते हैं जो वास्तव में सूर्योपासना से सम्बंधित प्राचीन भारतीयोपाख्यान है।

रोप में पूर्व बुद्धकालीन भारतीय लोककथाओं का रूप सुरक्षित है। उनमें रूप से बौद्ध-तत्त्व कुछ नहीं है। जिन चारित्रिक आदर्शों का प्रतिपादन वे भारतीय हैं। वस्तुतः उनके प्राचीनतम रूप में जो कुछ बौद्धता है, वह चयन में है। अपने लोक-रूप में जो अन्धविश्वासों से पूर्ण थे उनको छो गया है। चरित्र-दर्शन का बड़ा सरल रूप प्रस्तुत किया गया है—जो सब रण के लिये बोधगम्य है। जातकों को हम इस दृष्टि से शिशुओं का पय कह है। ऊँचे और गम्भीर सिद्धान्तों को इन जातकों द्वारा इतनी सरलता से भाया गया है कि कभी-कभी इनकी सरलता पर आश्चर्य किया जाने लगता

जातकों की लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि पच्चीकारी और कारी के लिए बौद्धधर्मानुयायी देशों में जो विषय लिए गऐ वे प्रायः जातक नियों से चुने गए। 'भारहुत', साँची और बोधगया अथवा अमरावती में वाले दृश्य, जो ई० दूसरी शताब्दी से पहले के हैं, प्रायः जातकों से सम्बन्धि अजन्ता की गुफाओं में भी जातकों से सम्बन्धित अनेक चित्र मिलते हैं। बर्मा और स्याम के बौद्ध मन्दिरों पर अनेक दृश्य जातकों की महिमा का गा रहे हैं।

जातकों में सभ्यता की जिस अवस्था का निरुपण किया गया है, वह निस्स कई अर्थों में प्राचीनतम है। जातकों में दारुनिर्मित राजभवनों का उल्लेख आता इस प्रकार की सामग्री के आधार पर प्राचीन भारत के इतिहास का बहुत सीमा तक पुनर्निर्माण किया जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक साक्षी के रूप में स्वीकार करते समय हमें सावधान रहने की आवश्यकता है। एक बात ध्या रखनी होगी कि जातकों में गद्य कथाओं के साथ गाथाओं में जो वार्तालाप गया है, वह स्वतः पूर्व बुद्धकालीन है, इनसे जातक के मौलिक रूप पर पय प्रकाश पड़ता है।

जातक सम्बन्धी साहित्य

अन्यत्र कहा जा चुका है कि देश विदेश में जातकों के अनेक अनुवाद हो गये विशेष श्रेय के भागी योरप के विद्वान हैं, जिन्होंने जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी जातकों का अनुवाद करके न केवल भारतीय साहित्य की अपितु विश्व-साहित्य अमूल्य सेवा की है। भूमिकाओं और पदटिप्पणियों द्वारा जो प्रकाश जातकों सम्बन्ध में उन्होंने विकीरित किया है, वह जिज्ञासा को प्रेरित करने में बड़े मह

का है। इस सम्बन्ध में कोवेल, एलवेल, राबर्ट चालमर्स, ओल्डनवर्ग, वेन्जल, राऊज विन्टरनित्ज, केलेहार्न, एम० जस्टर, मि० राइजडेविड्स, मिसेज राइज डेविड्स एच० टी० फ्रान्सिस, डा० कीथ, इजे थोमस, इ० डी० रॉन, एन० वी० उन्गिकर रायसाहिब ईशानचन्द्र घोष, वी० एम० वरुवा, डा० विमल चरण के नाम उल्लेखनीय हैं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातकों का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। इनके अतिरिक्त पालि भाषा सम्बन्धित काम करने वाले विद्वानों में देश के भाषा-विज्ञान के उन सभी पण्डितों का नाम लिया जा सकता है जिनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी। इनमें डा० एस० के० चटर्जी, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० बाबूराम सक्सेना, भद्यादत्त ठाकुर, डा० धीरेन्द्र वर्मा और श्री सान्याल, डा० गुणे, डा० मंगलदेव शास्त्री, विश्वनाथ प्रसाद, बटुकनाथ शर्मा के नाम भी बड़े महत्त्व के हैं।

भारतीय साहित्य में पालि-साहित्य का स्थान

पालि-साहित्य भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण अंग है, किन्तु अब तक वह उपेक्षित ही रहा है। वैसे तो सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य साहित्य का ही अब तक हिन्दी में यथावत् अध्ययन नहीं हो पाया जो विद्वानों को बड़ी खटकने वाली चीज है, किन्तु पालि-साहित्य की उपेक्षा और भी अधिक खटकने वाली है। इतना गौरवशाली साहित्य और इतनी उपेक्षा। ईसवी पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक का अर्थात् बारह सौ वर्ष का इतिहास पालि साहित्य में आवृत्त पड़ा है। मध्यकालीन आर्य इतिहास का अधिकांश महनीय एवं स्मरणीय पालि-साहित्य में निहित है। पालि-साहित्य एक सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति का इतिहास तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही एक ऐसी दार्शनिक धारा को भी प्रवाहित करता है जो वैदिक चिन्ता-धारा में एक बाढ़ के समान प्रकट होकर और अनेक मर्मोमियों को नयी दिशाएँ देकर भारतीय जीवन में प्रच्छन्न रूप से सरजित है। इसके मार्ग से भारत को विश्व में जो गौरव मिला विश्व-संस्कृति का इतिहास उसे भुला नहीं सकता। जिस धर्म ने भारतीय संस्कृति की महनीयता को विश्व में प्रतिष्ठित करके उसे विश्वसंस्कृति के पद पर आसीन किया पालि-साहित्य उसी का कलेवर है। इसलिए मध्य युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को इसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि-साहित्य में अंकित है। फिर भी भारत में इसके अध्ययन के संबंध में इतनी उपेक्षा रही है। सिंहल, बर्मा, स्याम

इगलेड, जर्मनी और फ्रास मे पालि-साहित्य के ऊपर जो काम हुआ है उसको देखते हुए भारत मे पालि स्वाध्याय की अवस्था बडी दयनीय है। जिस सस्कृति के प्रभाव से चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, तिब्बत, मध्य एशिया, अफगानिस्तान, सिहल वर्मा, स्याम, अनाम आदि सुदूरदेश अवतक प्रभावित है, उसे हम भारतवासियो ने भुला दिया है, यह न केवल आश्चर्य की बात है, अपितु बडे दु ख की भी बात है।

जिस महात्मा ने हमारा सम्बध विश्व से स्थापित किया था और जिसने भारत को गुरु-पद पर प्रतिष्ठित किया था उसके वचनो पर हम भारतवासी दृक्पात भी नही करते। जातिवाद की जिस खाई को मिटाने का, जनवाणी को प्रतिष्ठित करने का और अहिसा के माध्यम से साम्य की प्रतिष्ठा करने का जो व्रत वैदिककाल मे ही महात्मा बुद्ध ने लिया था वह आज की परिस्थितियो मे भुला देने योग्य नही है अथवा यह कह देना भी अनुचित न होगा कि आज महात्मा बुद्ध की वाणी सफल हो रही है। यद्यपि भौतिक स्पृहाओ और वैज्ञानिक अनुसधानो के दुरुपयोग के कारण उस सफलता की गति कुछ मद अवश्य है, किन्तु इन भौतिक सघर्षो के पीछे रूस और अमरीका की होड की धुध मे प्रकाश की जो किरण चमक रही है वह प्राच्य अरुण की है जिसकी काति मे महात्मा बुद्ध का अपूर्व योग है। पालि साहित्य को भुला देने का तात्पर्य यह है कि हम प्रकाश को भुला रहे हैं, उस सूर्य को भुला रहे हैं जो हमारी सास्कृतिक स्थिति का आधार है।

साहित्य हमे जीवन की शिक्षा देता है और उससे भी पहले हमे जीवन से अवगत कराता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी सब कवियो की सब रचनाएँ विश्व-साहित्य बनने का गौरव नही पा सकती किन्तु पालि-साहित्य कभी (और अशुताश मे आज भी) विश्व-मान्यता प्राप्त कर चुका है। अतएव निश्चयपूर्वक उसमे कुछ ऐसे तत्त्वो का समावेश है जो चारित्रिक, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक अथवा साहित्यिक किसी भी दृष्टि से आकर्षक और मोहक हैं। ऐसे तत्त्वो की उपेक्षा करना न केवल सामाजिक अपकार हैं, अपितु व्यक्तिगत अपकार भी है। पालि-साहित्य मे जहाँ हम जीवन-तत्त्वो की खोज कर सकते हैं, वहाँ साहित्यिक तत्त्वो की गवेषणा भी कर सकते है। जो साहित्य हमारे इतिहास को पृष्ठभूमि मे विकर्ण हो, जो हमारे विकास क्रम पर प्रकाश डालता हो, जिसकी ध्वनियो मे हमारी वाणी का बीज निहित हो, जिसके दार्शनिक तत्त्वो के समावेश से हमारी साहित्यिक चेतना अनुप्राणित हो और जिसमे निहित क्राति के बीज से हमे उस फल के मिलने की

सम्भावना हो जिससे भारतीयता अमर हो सकती हो उसके अध्ययन की उपेक्षा करना एक ऐसी भूल है जिसमे अमूल हानि के लिए हमारी पीढ़ियो को पछताना पड सकता है। आज शिक्षा बढती हुई कही जाती है, किन्तु शिक्षा के मूल्यो का विघटन हो रहा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस विघटन का कोई कारण अवश्य है। वह या तो शिक्षा की पृष्ठभूमि में है या उसके उद्देश्य में। इस कारण की गवेषणा उस समय तक नहीं की जा सकती जबतक हम तक्षशिला और नालदा जैसे विश्वशिक्षा केद्रों की पद्धतियों और प्रणालियों का सम्यक् अध्ययन न कर लें। इस अध्ययन का एक मात्र साधन पालि या प्राचीन प्राकृत साहित्य है। शिक्षा की दुर्बलताओं के दूर करने और शिक्षक, शिष्य और शिक्षण में एक तालमेल पैदा करने और जीवन-तत्त्वों को एकांगी दृष्टि से बचाने के लिए पालि जैसे साहित्य का अध्ययन बड़ी सहायता दे सकता है।

पालि साहित्य मे इतने तथ्य भरे पड़े हैं कि उनसे प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण मे अमूल्य सहायता मिल सकती है। पालि के अनेक ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों मे दबे पड़े हैं जो आसानी से उपलब्ध नही हो सकते। पालि-टीकाओं के विशाल भडार मे हमें प्राचीन भारत की साहित्यिक, भाषा-वैज्ञानिक, सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक, वास्तुकलात्मक और धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्मों का मनोचारित्रिक विश्लेषण, चेतना के अनेक रूपों का वर्गीकरण, मानसिक वृत्तियों, कारणात्मक सम्बध तथा और भी अनेक बातें जो पालि मे प्रचुरता से मिलती हैं, भारतीय ज्ञान को पालि की अमूल्य देन हैं। भारत के एक महान धर्म सुधारक महात्मा गौतम बुद्ध के चरित्र का सम्यक् बोध पालि-पिटक के कुछ ग्रन्थो के अध्ययन से ही हो सकता है। भारत के प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी के लिए पालि अध्ययन सस्कृत और प्राकृत के समान महत्त्वपूर्ण है, वरन् विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से पालि के अध्ययन का महत्त्व इन दोनों से भी अधिक है। पालि का जितना अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने किया है उतना भारत मे नहीं हुआ। इससे भारतीयों को प्रेरणा लेनी चाहिए। आज विद्वानों का ध्यान प्राचीन साहित्य की ओर इतिहास और संस्कृति की जिज्ञासा ने प्रेरित किया है और अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम मे आने से पालि भाषा के अध्ययन का विकास हो रहा है। अनेक ग्रंथ पालि के विषय में लिखे जा रहे हैं और धार्मिक और साहित्यिक अध्ययन को प्रोत्साहन मिल रहा है।

'प्राचीन' का ज्ञान 'अर्वाचीन' को मोड़कर भविष्य का निर्माण कर सकता है। इस दृष्टि से भारत के भावी निर्माण मे पालि के अध्ययन से बड़ी सहायता मिल सकती है। पालि के अध्ययन से समाज की स्थिति और स्वरूप, उसके तत्त्व, उसकी प्रेरणाएँ, उसके निर्माण और ध्वस के तत्त्व हमारे सामने आ सकते हैं और प्राचीन भूलों से हमारा विशेष लाभ हो सकता है। राजनीतिक दशा, आर्थिक-परिस्थितियो, आय और व्यय के साधन, जीवन-निर्वाह की शैलियो, शिक्षा-पद्धति, कला-कौशल, सामाजिक आदर्श, धार्मिक स्थिति, बौद्धिक विकास, नैतिक धरातल, भौतिक उन्नति, पारलौकिक दृष्टिकोण, विविध धर्म-सम्बन्ध, सामाजिक साम्य-वैषम्य, विदेशो से सम्बन्ध, आवागमन के साधन, उपयोगी विद्याओ का विकास इन सबके सम्बन्ध मे पालि का अध्ययन बड़ा मूल्यवान है।

- आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियो के और कुछ अशो मे तो राष्ट्रभाषा हिन्दी तक के भी, ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हम नही हो पाया। भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी अनेक बात अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यह है कि मध्यकालीन आर्य भाषाओ का, जिसमे पालि प्रथम और मुख्य है, अभी सम्यक् अध्ययन नही हुआ। अपनी भाषा को, उसके वर्तमान स्वरूप को, भलीभाति समझने के लिए पालि-भाषा का वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने की आवश्यकता है। पालि के अनेक शब्द-रूपो और अर्थों ने हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओ को योग दिया है। जिस भाषा और साहित्य ने सिंहल, वर्मा, स्याम आदि देशो की भाषाओ के विकास पर प्रचुर प्रभाव डाला, उसके प्रभाव की खोज कर इन देशो के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धो को अधिक दृढ़ किया जा सकता है। पालि भाषा ने अपने साहित्य द्वारा विश्व के एक बड़े भू-भाग को शांति प्रदान की है क्योंकि उसमे महात्मा बुद्ध के सन्देश जो जीवन-तत्त्वो के वाहक और शान्ति के अग्रदूत हैं, निहित हैं। उसके अध्ययन द्वारा हम देश विदेश के उस समाज के सम्पर्क मे आएँगे जिसके साथ हमारे सास्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध दृढ़ हो जाने से विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा होगी।

यदि सामाजिक और राजनीतिक दृष्टकोणो को भुला भी दें तो वस्तु और शैली की दृष्टि से भी पालि साहित्य अपनी उदात्तता, गभीरता और मनोरमा के कारण किसी साहित्य की समता मे खड़ा हो सकता है। यदि सरलता और स्वाभाविकता की दृष्टि से देखें तो पालि-कहानियां को सामने रख सकते हैं।

यदि अन्त में मानव-धर्म से ही संसार को मुक्ति मिलती है तो बुद्ध के सन्देश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें साहित्य के तत्त्व ही नहीं इतिहास की अमूल्य निधि भी निहित है। उसके समुचित मूल्यांकन से भारतीय संस्कृति के गौरव में विशेष प्रकाश ग्रहण कर सकता है। भारतीय इतिहास के कालक्रम के निश्चय करने में भी सबसे अधिक सहायता पालि-साहित्य से ही मिली है। त्रिपिटक और अनुत्रिपिटक साहित्य के अनेक रत्न अपनी प्राचीनता के दुर्गम गर्भ से निकलकर जब प्रकाश की किरणें छोड़ेंगे तो इतिहास को एक नई सामग्री और नई दिशा मिलेगी।

पालि-साहित्य ऐतिहासिक ज्ञान के विकसित करने में जितना सहायक हो सकता है उतना ही भौगोलिक तथ्यों के प्रस्फुटित करने में भी सहायक हो सकता है। धर्म के इतिहास को सम्यक् रूप से सामने लाने में पालि-साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। अब तक बौद्ध धर्म और दर्शन का जो कुछ परिचय हमें प्राप्त हुआ है वह प्रायः संस्कृत ग्रंथों से उपलब्ध हुआ। इससे वह एकांगदर्शी और अपने मौलिक स्वरूप से विप्रकृष्ट है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य करके प्रायः बौद्ध-दर्शन की समालोचना की है। इस कारण उसकी मौलिक भूमिका हमारी दृष्टि से प्रायः ओझल ही रही है। पालि-साहित्य का अध्ययन ही हमें महात्मा गौतम के व्यक्तित्व का साक्षात्कार कराके उनके मानवीय गुणों को प्रकाशित करने की प्रेरणा दे सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पालि-साहित्य का सबसे अधिक महत्त्व उसकी प्रेरकता में निहित है। उसको हम साधना के उत्साह, ऐतिहासिक गवेषणा और रचनात्मक साहित्य के सृजन के रूप में पालि-साहित्य के अध्ययन से ही पा सकते हैं। केवल बुद्ध-चरित, सिद्धार्थ, यशोधरा आदि के सृजन से ही पालि-साहित्य का अमित भंडार समाप्त नहीं हो सकता। अभी वह हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के विधायक लेखकों और चिन्तकों को अमोघ प्रेरणा और आधार दे सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पालि-साहित्य में अनेक दिशाओं और क्षेत्रों में काम आने वाली सामग्री भरी पड़ी है। अतएव पालि का अध्ययन प्रत्येक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है।

●

: ४ :

आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्य पर पालि-साहित्य का प्रभाव

आधुनिक भाषाओं के साहित्य पर पालि-साहित्य का परोक्ष और अपरोक्ष रूप में बड़ा आभार है। परोक्ष रूप से आधुनिक भाषाओं को न केवल शब्द ही दिए, अपितु अनेक अर्थ भी दिये। तद्भव शब्दावली में अनेक शब्द ज्यों के त्यों पालि से आए हुए हैं और शब्दों में प्राकृत अपभ्रंश के पथ में कुछ परिवर्तन भी हो गए हैं, किन्तु भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन शब्द जो पालि-काल में प्रचलित थे और जिनको पालि ने सुरक्षित रखा वे लिखित और मौखिक सम्पर्कों द्वारा हम तक आ पहुँचे हैं। राजस्थानी में प्रयुक्त 'गरु' (गुरु) शब्द कोई नया शब्द नहीं है, पालि में भी इसका प्रयोग है। इसी प्रकार 'खीर' शब्द ने आज, भले ही, अर्थ-परिवर्तन कर दिया हो, किन्तु अब भी इसका प्रयोग और 'दूध' से सम्बन्ध आधुनिक भारतीय भाषाओं को पालि के निकट पहुँचा देता है। इसी प्रकार पालि के 'पोक्खर' शब्द ने आधुनिक भाषाओं में आकर कुछ सरलता भले ही दिखलाई हो, किन्तु 'पोखर' (ब्रजभाषा) पालि शब्द से दूर नहीं है। अब भी रोहतक जिले में इस शब्द का उच्चारण 'पोक्खर' ही होता है। भाषा के कुछ नियम आधुनिक भाषाओं में उसी प्रकार से कार्य कर रहे हैं। पालि शब्द 'दुक्ख' ने जिस प्रकार 'सुख' को 'सुक्ख' रूप में प्रचलित कर दिया था उसी प्रकार आज भी लोग 'दुक्ख सुक्ख दिन कट ही जाएँगे' वाक्य का प्रयोग करके 'सुक्ख' की स्थिति को पालि के समीप कर देते हैं। 'उळार' आज भी *ब्रज-क्षेत्र की लम्बी बैलगाड़ियों में लम्बी बल्लियों के ऊपर पीछे की ओर लगे हुए* डंडे के लिए प्रयुक्त होता है। चाहे संस्कृत के 'उदार' शब्द का अर्थ 'उळार' में न रहा हो, किन्तु शब्द अब भी है और 'उळार' से इसका कोई सम्बन्ध अवश्य

है। 'उळार' एक और अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब किसी बैलगाड़ी में पीछे की ओर अधिक भार हो जाने से आगे वह हल्की हो जाती है तो उसे 'उलार गाड़ी' कहा जाता है। इसमें संस्कृत के 'उदार' और पालि के 'उळार' अर्थ किसी न किसी मात्रा में अब तक चला आता है। रोहतक में प्रयुक्त 'लट्ठि' शब्द ब्रज के 'लठिया' से बहुत दूर नहीं है और 'लट्ठि' शब्द पालि में भी प्रयुक्त होता था, अतएव रोहतक का 'लट्ठि' शब्द पालि में भी प्रयुक्त होता था, अतएव रोहतक का 'लट्ठि' शब्द तो बिल्कुल वह है ही, किन्तु ब्रज का 'लठिया' या 'लठिआ' शब्द भी इससे बहुत दूर नहीं है। ब्रज में 'वन्ध्या' स्त्री के लिए 'बंझा' और बाँझ दोनों शब्दों का प्रयोग होता है। पुरानी कविता में 'बंझा' शब्द का प्रयोग बहुलता से मिलता है। यह शब्द पालि भाषा में भी प्रयुक्त होता था। पालि में 'बाहर के अर्थ में' 'बाहिर' और 'बाहिर' दोनों शब्दों का प्रयोग होता था, और बाहिर या बाहर शब्द का प्रयोग आज भी मिलता है। पालि जुति (द्युति) शब्द ने आज 'जोति' का रूप लेकर भी आधुनिक भाषाओं से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं किया। अर्थ तो अब भी वही है। हमारा छठी शब्द आज भी पालि के 'छट्ठि' के पास में है। पालि पिट्ठि या पिट्ठी शब्द, चाहे 'पाउडर' के अर्थ में न सही, आज भी हलवाइयों के दुकानों या अपने रसोईघरों में सुनाई पड़ता है।

ऐसे ही अनेक शब्द हैं-जो हमारी भाषा को पालि-भाषा के प्रति आभारी बनाते हैं। इन शब्दों और अर्थों को देखकर हमारे इस निर्णय को भी सिद्धि होती है कि पालि का सम्बन्ध मध्य देशीय भाषाओं से था।

इसके अतिरिक्त पालि-साहित्य ने आज हमें अनेक नये विषय भी दिये हैं। न केवल दार्शनिकों को ही 'दर्शन' दिया है, अपितु कवियों और साहित्यिकों को भी उक्ति-भूमिका प्रदान की है। 'प्रसाद' के स्कन्दगुप्त में गौतम के 'अनात्मवाद' और उपनिषदों के 'आत्मवाद' पर जो दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत की गई है, यह स्पष्टतः पालि-साहित्य की देन है, चाहे परोक्षरूप में ही क्यों न हो।

जाति-पाँति के विरोध में एक पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय पालि-साहित्य और बौद्ध धर्म को भी है। जातिवाद के विरोध में महात्मा बुद्ध ने प्राचीनकाल में जो आवाज उठाई थी वह दबी नहीं है, अपितु आज वह और भी उभर गई है। इसमें पालि-साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका का भी श्रेय है। कहना न होगा कि पालि के अध्ययन ने हमें और   रे साहित्य की नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण

प्रदान किया है। आज 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' में 'ईश्वरवाद' के लिए जो स्थान रह गया है उसकी आधार भूमि पर बुद्ध की स्वर-लहरियाँ लहराती दीख पड़ती है। कबीर ने बौद्धो से बहुत कुछ भले ही न लिया हो, किन्तु बुद्ध के मार्ग से बहुत कुछ अवश्य लिया। तुलसीदास ने, ईश्वरवाद के समर्थन से श्रुति-मार्ग को प्रशस्त करके 'अनीश्वरवाद' और 'अनात्मवाद' पर जो प्रहार किया है उसमे बौद्धधर्म का विरोध निहित है। इसे पालि-साहित्य का परोक्ष प्रभाव ही समझना चाहिए।

आधुनिक काल मे पालि-साहित्य का प्रभाव कुछ अधिक बढ गया है क्योकि भारत में उसका अध्ययन होने लगा है। केवल 'बुद्धचरित' और 'सिद्धार्थ' को ही प्रेरणा नही मिली, अपितु 'वैशाली की नगरवधू' जैसी कृतियो के नामो को भी पालि का वरदान मिला है, भिक्षु जगदीश काश्यप, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महापडित राहुल सास्कृत्यायन आदि विद्वानो ने अपने अनुवादो और मौलिक कृतियो से हिन्दी का जो भडार भरा है उसके लिए पालि का आभार भुलाया नही जा सकता। इसी प्रकार आज के अनेक छात्रो को पालि-साहित्य ने प्रेरणा देकर भारतीय साहित्य के विकास मे योग दिया है।

एक बडी चीज़ जो पालि-साहित्य ने आधुनिक भारतीय साहित्य को प्रदान की है, वह है ऐतिहासिक आधार-शिला। पालि-साहित्य ने इतिहास को प्रमाण और साहित्य को आधार दिया है। आज अनेक प्राचीन कथानको से सम्बन्धित रचनाओ को पालि और प्राकृत की शक्ति मिली है। पालि और अर्द्धमागधी ने इस क्षेत्र मे भारतीय भाषाओ का बडा उपकार किया है।

बुद्ध के प्रयत्नो ने सस्कृत के विरोध मे जिस प्रकार लोक-भाषाओ को प्रोत्साहन दिया, उसी प्रकार बौद्ध धर्मानुयायियो ने भी लोक-भाषाओ को प्रेरणा देने मे प्रयत्न किया। इस दिशा मे सिद्धो के प्रयत्न भुलाए नही जा सकते। पालि के मिश्रित रूप मे साहित्यिक रूप होते हुए भी लोक-भाषाओ का आधार है। इस रूप ने लोक भाषाओ के ऐसे ही रूप को बाद मे भी प्रोत्साहन दिया। 'सस्कृत जैसे कूपजल, भाषा बहता नीर' कहकर कबीर ने मानो बुद्ध के वचनो को ही दुहराया और अपनी 'सधुक्कडी भाषा' मे पालि भाषा का ही आदर्श स्वीकार किया।

पालि ने व्याकरण की दृष्टि से जो मार्ग ग्रहण किया वह बाद मे भी चलता रहा। आधुनिक भारतीय भाषाओ ने अपभ्रश और प्राकृत मे होकर भी मानो पालि की ओर दृक्पात किया। विभक्तियो और वचनो मे जो सरलता पालि ने दिग-

लाई आधुनिक भारतीय भाषाओं ने, विशेषतः हिंदी ने, उस ओर भी आगे कदम बढ़ाया हिन्दी ने नपुंसक लिंग का लोप करके मानो पालि की 'सरलता-वृत्ति' का भी अनुपालन किया है। आज अनेक ध्वनियाँ जैसे 'रह', 'ण्ह', ळ (राजस्थान में) और 'ल्ह' जो आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलती हैं, पालि भाषा से ही चली आरही हैं।

इस प्रकार व्याकरण, ध्वनि, शब्दकोष, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विषय आदि सभी दृष्टियों से हमारी भाषाएँ पालि की आभारी हैं। जातक कहानियों ने इन क्षेत्रों में सबसे अधिक योग दिया है।

●

५

शिक्षा और सिद्धान्त

बुद्ध की शिक्षाएँ—बौद्ध धर्म का सार आत्मोन्नति और आत्मनिरोध है। इस धर्म में सिद्धान्त और विश्वास अप्रधान अग हैं। जिस क्षण बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे बुद्ध के हृदय में बुद्धतत्व उदित हुआ उस समय जो प्रमुख विचार उनके हृदय में उठे वे क्षोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने के फलस्वरूप मानव दुख को दूर करने के सबध में थे। अपने जीवन के दीर्घकाल में उन्होंने इन्हीं विचारों की शिक्षा मनुष्यों को दी।

चार सत्य—बुद्ध ने चार सत्य और आठ मार्गों का उपदेश दिया। इन्हीं में बौद्ध धर्म का सार निहित है। उन्होंने कहा—'हे भिक्षुओ, यह दुख का उत्तम सत्य है। जन्म दुख है, नाश दुख है, शोक दुख है, मृत्यु दुख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनकी उपस्थिति दुख है, जिनकी हम कामना करते हैं, उनका न मिलना दुख है। साराश यह है कि जीवन की कामनाओं में लिप्त रहना दुख है।'

हे भिक्षुओ, दुख के कारण का उत्तम सत्य यह है—लालसा पुर्नजन्म का कारण है। लालसा के पूर्ण निरोध से दुख नष्ट होता है। यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा का परित्याग कर देने से, लालसा के बिना काम करने से, उससे मुक्ति पाने से और कामना का नाश करने से होता है।'

आठ मार्ग—पवित्र आठ मार्ग ये हैं —

१ सत्य विश्वास, २ सत्य कामना, ३ सत्य वाक्य, ४ सत्य व्यवहार, ५ जीवन निर्वाह के सत्य उपाय, ६ सत्य उद्योग, ७ सत्य विचार, ८ सत्य ध्यान।[1]

यह बुद्ध की शिक्षा का साराश है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन और उसके सुखों की लालसा दुख का कारण है। उस लालसा के मर जाने से दुख का

---

१ देखिये, महावग्ग, १।६

अन्त हो जाता है, लालसा पवित्र जीवन से ही मरती है। उक्त आठ विधियों से पवित्र जीवन प्राप्त होता है।

विचारधारा—गौतम मन की पापरहित शान्त अवस्था को निर्वाण कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, परन्तु वे हिन्दुओं के पुर्नजन्म के सिद्धान्त को इस रूप में स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के कर्म का नाश नहीं होता, मनुष्य के मरने पर मृत मनुष्य के कर्मों के अनुसार एक नये मनुष्य की उत्पत्ति होती है। सब बौद्ध ग्रन्थकार मृत्यु के बाद जन्म लेने का उदाहरण एक दीपक की लौ से देते हैं—जैसे एक दीपक की लौ से दूसरा दीपक जलाया जाता है। बुद्ध अपने आत्म निग्रह की पवित्रता को मृत्यु के बाद मिलनेवाली सुख-लालसा के द्वारा नष्ट नहीं करते। उनके अनुसार मृत्यु के उपरान्त ज्ञान नही रहेगा, परन्तु पुण्य रहेगा और उससे प्राणियों के दुख दूर होंगे।[१]

गौतम हिन्दू देवताओं को भी मानते हैं, किन्तु पवित्र जीवन को उनसे ऊपर स्थान देते हैं। वे जाति-वर्ण नहीं मानते, गुणों का सत्कार करते है। वे कहते हैं—'हे भिक्षुओ, जिस प्रकार बडी-बडी नदियाँ समुद्र में गिरकर अपना नाम त्याग देती है, उसी प्रकार भिक्षु हो जाने पर उनमें वर्ण-भेद नही रहता। धार्मिक जीवन में सब ऊँच-नीच समान हो जाते हैं।'

इन उपदेशों से लाखो मनुष्यों ने ऊँच-नीच का भेद-भाव छोड़ दिया और तीन शताब्दियों मे ही बौद्ध धर्म भारत का प्रधान धर्म हो गया।

बुद्ध की धार्मिक आज्ञाएँ

(१) 'गृहस्थों को किसी जीव को नही मारना-मरवाना चाहिए, दूसरे मारें तो उसकी सराहना नही करनी चाहिये। उन्हें सजीवों के मारने का विरोध करना चाहिये।'

(२) 'उन्हें कहीं से भी कोई ऐसी वस्तु न लेनी चाहिये जो उनकी नही है, या उनको नही दी गई है। ऐसी वस्तु उनको दूसरों को भी न लेने देना चाहिये और न ऐसा करने वालों की प्रशंसा करनी चाहिये। उन्हें सब प्रकार चोरी का त्याग करना चाहिये।'

(३) 'उन्हें जलते हुए अंगारे की भाँति व्यभिचार का त्याग करना चाहिये।'

---

१. धम्मिक सुत्त

(४) 'उन्हें झूठ नहीं बोलना चाहिये, न दूसरों से बुलवाना चाहिये, झूठ बोलें उनकी सराहना भी न करनी चाहिये।'

(५) 'उन्हें कोई नशे की वस्तु सेवन न करनी चाहिये, न किसी को नशा पिलाना चाहिये। पीने वालों की सराहना भी नहीं करनी चाहिये।'[१]

इन पाँच आज्ञाओं के अतिरिक्त तीन नियम और हैं, जो ये हैं —

(१) रात्रि को भोजन न करना, (२) गन्ध मद्य का सेवन न करना, और (३) भूमि पर सोना।

ये आठ शील हैं, जो गृहस्थों के पालन करने योग्य हैं। बुद्ध ने मनुष्यों को कहा —'घृणा कभी घृणा से बन्द नहीं होती, घृणा प्रीति से बन्द होती है, यही इसका स्वभाव है।'

'क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिये, बुराई को भलाई से विजय करना चाहिये। लालच को उदारता से, और झूठ को सत्य से जीतना चाहिये।'

बुद्ध की ये महान् शिक्षाएँ हैं जो मनुष्य को ऊँचे से ऊँचे स्तर पर पहुँचाती हैं।

बुद्ध के मूल सिद्धान्त

बुद्ध के मूल सिद्धान्त चार हैं—तीन नकारात्मक और एक स्वीकारात्मक। तीन नकारात्मक सिद्धान्त ये हैं —

(१) ईश्वर नहीं है।

(२) आत्मा नित्य नहीं है।

(३) कोई ग्रन्थ अपौरुषेय या स्वतः प्रमाण नहीं है।

एक स्वीकारात्मक सिद्धान्त यह है —

(४) जीवन-प्रवाह इसी शरीर तक परिमित नहीं है।

(१) ईश्वर नहीं है—यदि ईश्वर है तो मनुष्य अपना मालिक नहीं हो सकता। यदि ईश्वर जगत् का उपादान कारण (जैसे घट का उपादान कारण मिट्टी है) है तो संसार में जो भला-बुरा हो रहा है, वह ईश्वर में ही है, यदि यह माना जाय तो ईश्वर दयालु नहीं, क्रूर है क्योंकि संसार में दुख ही अधिक हैं। फिर वह निराकार कैसे है? यदि वह निमित्त कारण (जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है) तो उसका उपादान क्या है? यदि वह बिना उपादान जगत को बनाता है तो

---

१. म ' स — स

अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी तथा कारण-कार्य का विरोध होगा। यदि कहो कि जगत् का कारण होना चाहिये तो ईश्वर का भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि कर्ता-धर्ता ईश्वर है तो मनुष्य सुख-दुख क्यों भोगता है? वह तो अच्छे बुरे काम का उत्तरदायी हो ही नहीं सकता। ईश्वर के न मानने से ही मनुष्य को स्वाधीनतापूर्वक शुद्धि और मुक्ति के प्रयत्न का अधिकार मिलता है। इसलिए ईश्वर नहीं है।

(२) आत्मा नित्य नहीं है—शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। वह स्कंधों के योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो क्षण-क्षण में उत्पन्न विनष्ट होती है। इसलिए हम अनात्म हैं।

(३) कोई ग्रन्थ अपौरुषेय और स्वत. प्रमाण नहीं है। परिशुद्ध और मुक्त बनने के लिए कर्म करने में मनुष्य का स्वतंत्र होना जरूरी है। कर्म करने की स्वतंत्रता के लिए बुद्धि का स्वतंत्र होना आवश्यक है। बुद्धि-स्वतंत्र्य के लिए किसी ग्रन्थ की परतन्त्रता न होनी चाहिये। किसी ग्रन्थ की प्रामाणिकता उसे बुद्धि की कसौटी पर कसने पर निर्भर है, न कि प्रामाणिकता ग्रन्थ पर।

(४) जीवन की शाश्वत प्रवाह—शरीर और मन का समुदाय जीवित शरीर है। वह कोई इकाई नहीं है, असख्य परिवर्तनशील अणुओं का संगठन है। पुराने अणु नष्ट होते और नये बनते रहते हैं। यह जीवन-प्रवाह इस शरीर में पूर्व से आ रहा है और पीछे भी रहेगा। फिर भी यह अनादि और अनन्त नहीं है। इसका आरम्भ तृष्णा से है और तृष्णा के क्षय से इसका क्षय होता है।

इस प्रकार अनित्य, अनात्म और प्रतीत्य—समुत्पाद ही बुद्ध का दर्शन-सिद्धान्त है।[1]

निर्वाण—निर्वाण का अर्थ बुझना है। दीपक की लौ जलते-जलते बुझ जाती है, तब उसकी परिसमाप्ति हो जाती है। जीवन-प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है।

बुद्ध के दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध के दर्शन क्षणिकवादी हैं। किसी वस्तु को वे एक क्षण से अधिक ठहरने वाली नहीं मानते। इसके साथ ही उनका अनित्यवाद भी है। इसका अभिप्राय

---

१. [illegible] शास्त्री [illegible] संस्कृति का इ[illegible] पृ० ४६४-६५

यह है कि 'दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है। एक का सर्वथा नाश और दूसरे का सर्वथा नया उत्पादन होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ है। 'एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति। इसी प्रतीत्य समुत्पाद को लेकर आगे चलकर नागार्जुन ने अपने 'शून्यवाद' के सिद्धान्त को स्थापित किया। बुद्ध का यह प्रतीत्य-समुत्पाद उपनिषदो के नित्य ध्रुव अविनाशी आत्मवाद के सर्वथा विपरीत है। बुद्ध आत्मवाद को महा अविद्या कहते हैं।

आत्मा—बुद्ध के जन्म से पूर्व उपनिषदो के आत्मवाद' की सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी। विद्वानो मे इसकी प्राय चर्चा होती रहती थी। बुद्ध ने आत्म-सबधी विचारो को दो भागो मे विभाजित किया—एक वह जिसमे आत्मा को इन्द्रियगोचर माना, दूसरा वह जिसमे—

"वह इन्द्रियो से अगोचर है। बुद्ध इन्हे रूपी और अरूपी की सज्ञा देते है। दोनो विचारवालो मे कुछ लोग आत्मा को सन्त मानते है और कुछ अनन्त। दोनो विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी है।"[१] आत्मवाद के लिए बुद्ध ने एक नया शब्द 'सत्काय दृष्टि' प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ 'शरीर से भिन्न अजर-अमर तत्व' है। आत्मा से सबधित इस धारणा को बुद्ध सत्ज्ञान प्राप्ति की सबसे बडी बाधा मानते है। वे अविद्या और तृष्णा मे मनुष्य की सारी प्रवृत्तियो की व्याख्या करते है।

आत्मवाद का विरोध—जिस आत्मवाद की प्रतिष्ठा उपनिषदो मे बडे श्रम से की गई है, बुद्ध ने उसका खडन करते हुए कहा है—"जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता, अनुभव का विषय है, और अपने भले-बुरे कर्मों को अनुभव करता है, वह आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है, अनन्त तक ऐसा ही रहेगा, यह भिक्षुओवाला धर्म (मूर्खों का विश्वास) है।

बुद्ध का 'अनात्मा शब्द' अभावात्मक नही है। जिस आत्मा को उपनिषद् मे नित्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना है। उसीके समकक्ष वे अपने अनात्मा के अस्तित्व की प्रतिष्ठा करते प्रतीत होते है। उपनिषद् का आत्मा नित्य, ध्रुव होकर 'वस्तु सत्' है और बुद्ध का अनात्मा अनित्य, अध्रुव होते हुए भी 'वस्तु सत्' है।

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त बुद्ध का सबसे बडा दार्शनिक सिद्धान्त है। बुद्ध

१. देखिये, आचार्य चतुरसेन . भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० ५६६

ने शब्दों को कुछ अपने अर्थ दिये थे। धर्म शब्द को उन्होंने 'घटना' के अर्थ में प्रयुक्त किया (ये धर्मा हेतुप्रभावा·)।

बुद्ध ने 'जड़वाद' की प्रतिष्ठा नहीं की, जैसाकि कुछ लोग समझ लेते हैं। यद्यपि बुद्ध-दर्शन में 'आत्मवाद' का विरोध है, पर वह जड़वाद नहीं है। उसका कहना है—वही जीव है, वही शरीर, दोनों एक हैं।

अनीश्वरवाद—ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता बुद्ध को मान्य नहीं है। उपनिषद् विश्व का एक कर्त्ता मानते हैं। वह आत्मा है। बुद्ध को ईश्वर की सत्ता इसलिए नहीं है क्योंकि वह 'प्रतीत्य समुत्पन्न' नहीं है, किन्तु 'प्रतीत्य समुत्पन्न' होने पर वह ईश्वर ही नहीं रहता। बुद्ध कहते हैं—"ये ब्राह्मण अन्धे के पीछे चलने वाले अंधों की भाँति बिना जाने-देखे ईश्वर-ब्रह्म आदि पर विश्वास रखते हैं।"

बुद्ध ने अपने 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त द्वारा तत्कालीन विचार-धारा में एक नई क्रान्ति करदी, फिर भी उन्होंने पुनर्जन्म को बिल्कुल ही अस्वीकार नहीं किया। अतएव पुनर्जन्म और परलोक के सम्बन्ध में लोग सन्देह में पड़े रह गये। बुद्ध के प्रतीत्यवाद और क्षणिकवाद के कारण लोगों ने यह तो माना कि दुख क्षणिक है, नाशवान् है और हेतुप्रभ है, किन्तु उनको दुख दूर करने के निश्चित उपाय बुद्ध न बता सके।

: ६ :

पालि व्याकरण का परिचय

पालि का ध्वनि-समूह

वैदिक ध्वनि-समूह--

स्वर—(१) ६ मूल स्वर   अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ

(२) चार संयुक्त स्वर   ए, ऐ, ओ, औ

व्यंजन—(१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन

कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्

तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्

मूर्द्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह्

दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्, न्

ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्

(२) चार अन्तस्थ—य्, र्, ल्, व्

(३) तीन ऊष्म—श्, ष्, स्

(५) अनुनासिक—अनुस्वार

(६) तीन अघोष ऊष्म—विसर्जनीय या विसर्ग

• जिह्वामूलीय—क् से पहले आनेवाला विसर्ग। जैसे 'ततः कि' में विसर्ग की ध्वनि।

उपध्मानीय—प से पहले आनेवाला विसर्ग जैसे 'पुः पु' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि।

संस्कृत ध्वनि-समूह

संस्कृत ध्वनि-समूह करीब-करीब वैदिक ध्वनियाँ ही हैं। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(१) ऌ, ळ्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता।

(२) कुछ स्वरों और व्यजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है।

पालि ध्वनि-समूह

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व, ओ, औ।

व्यजन—(१) कण्ठ्य—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
(२) तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
(३) मूर्द्धन्य—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ल्, ळ्
(४) दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्, न्
(५) ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्
(६) अन्तस्थ-य्, र्, ल्, व्
(७) ऊष्म-स्
(८) प्राणध्वनि-ह

संस्कृत से मिलान करने पर पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है (१) ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ—स्वरो का प्रयोग पालि भाषा में नहीं मिलता। (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' मिलते हैं, (३) पालि में विसर्ग नहीं मिलता, (४) पालि में श, ष, नहीं मिलते, (५) ळ्, ळ्ह, व्यजनों का प्रयोग संस्कृत में नहीं है, पालि में उनका प्रयोग वैदिक भाषा के समान ही होता है। दो स्वरों के बीच में आने वाले 'ड्' का स्थान यहाँ 'ळ' ने ले लिया है। इसी 'ढ्' का स्थान 'ळ्ह' ने ले लिया है। मिथ्या सादृश्य के कारण 'ल' का प्रयोग 'न्' के स्थान पर भी देखा जाता है (६) स्वतन्त्र स्थिति में 'ह्' प्राण ध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्, र्, ल्, व्, या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैयाकरणों ने 'ओरस' या हृदय से उत्पन्न कहा है।

पालि में ध्वनि-परिवर्तन

अन्य भाषाओं की भाँति पालि में भी ध्वनि-परिवर्तन के कुछ नियम देखे गये हैं जो इस प्रकार हैं:—

(१) सावर्ण्य का नियम—जब दो भिन्न व्यजन ध्वनियाँ एक साथ मिलकर उच्चारण में असुविधा पैदा कर देती है तो उनमें से एक बदल कर उच्चारण को सरल कर देता है। यह सावर्ण्य कभी पूर्ण होता है, जैसे तस्य (सं०) से 'तस्स'; कर्म

(स०)से 'कम्म', कभी यह अपूर्ण होता है, जैसे त्याग (स०) से 'चागो'। अनेक उदाहरणों में संयुक्त वर्णों में से दूसरे को द्वित्व हो जाता है जैसे मुक्त (स०) से मुत्त रक्त (स०) से रत्त, दुग्ध (स०) से दुद्ध किन्तु कुछ उदाहरणों में प्रथम वर्ण का ही द्वित्व हो जाता है, जैसे प्राप्नोति (स०) 'प्राप्पोति'। ऐसे सावर्ण्य के दो भेद होते हैं। जहाँ सावर्ण्य पूर्व वर्ण के अनुरूप होता है वहाँ 'पूर्ववर्ण सावर्ण्य' होता है और जहाँ पर वर्ण के अनुरूप होता है वहाँ पर वर्ण सावर्ण्य होता है।

(२) असावर्ण्य का नियम—जहाँ एक ही ध्वनि अथवा ध्वनियों की, जो एक ही प्रकार से बनती है, पुनरावृत्ति होती है तो उनमें से एक असमान ध्वनि में बदल जाती है, जैसे लाङ्गल (स०) से 'नगल', पिपीलिका (स०) से किपीलिका, ललाट (स०) से नलाट।

(३) अन्ध सादृश्य का नियम—पालि में कुछ शब्दों के सादृश्य के अनुसार अन्य शब्द बना लिये जाते हैं, वहाँ अन्ध सादृश्य होता है जैसे 'दुब्बुट्ठि' के सादृश्य पर 'सुब्बुट्ठि' 'दुब्बचो' के सादृश्य पर 'सुब्बचो, विभक्तियों के योग में यह नियम अधिकता से मिलता है, जैसे वचसा, मनसा आदि के सादृश्य पर कायसा, मुखसा आदि बना लिये जाते हैं।

(४) अनुपूर्ति का नियम—जहाँ किसी शब्द में कोई व्यंजन लुप्त हो जाता है तो वहाँ या तो कोई स्वर दीर्घ हो जाता है या कोई अन्य व्यंजन उसके अभाव की पूर्ति के लिए जुड़ जाता है जैसे अर्हत् (स०) से 'अरहा' प्रतिकूल (स०) से 'पटिक्कूल,' परिषत् (स०) से परिसा आदि।

(५) वर्ण विपर्यय का नियम—जहाँ शब्द में वर्ण-क्रम बदल जाता है वहाँ वर्ण-विपर्यय होता है, जैसे 'मशक (स०) से 'दसग,' रश्मि (स०) से रस्मि, ह्रद (स०) से 'रहद'।

(६) स्वर-भक्ति का नियम—जहाँ संयुक्त व्यंजनों को अलग करने के लिए किसी स्वर का सम्यागम हो जाता है वहाँ स्वर-भक्ति का नियम होता है। जैसे अर्हत् (स०) से 'अरहा', महार्घ (स०) से 'महारह,' भार्या (स०) से 'भरिया'।

पालि संस्कृत की सजातीय भाषा है, इससे इनमें बहुत कुछ साम्य है किन्तु इनमें बहुत कुछ भेद भी है। पालि में ष, औ और ऋ, लृ नहीं है। इनमें से संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर पालि में कभी—

(१) 'अ' हो जाता है, जैसे—

मृत=मत
घृत=घत
कृषि=कसि
कृपाण=कपाण

(२) कभी 'इ' हो जाता है, जैसे—
ऋषि=इसि
ऋण=इण
तृण=तिण

(३) कभी 'उ' हो जाता है, जैसे—
ऋतु=उतु
मृदु=मुदु (Soft)
वृषभ=उसभ

(४) कभी 'ए' हो जाता है, जैसे—
गृह=गेह

(५) कभी 'र' हो जाता है, जैसे—
वृक्ष=रक्ख
बृहत्=ब्रहा, वरहा।

पालि और साहित्यिक संस्कृत में 'लृ' का प्रयोग नहीं होता। ऐ के स्थान पर पालि में इ हो जाता है, जैसे—

ऐश्वर्यम्=इस्सरियं (Wealth)

ऐ के स्थान पर पालि में कहीं-कहीं 'ए' भी हो जाता है, जैसे—

मैत्री=मेत्ती

'औ' के स्थान पर पालि में कभी उ हो जाता है, जैसे—

औत्सुक्यम्=उस्सुक्कं

'औ' के स्थान पर पालि में कभी 'ओ' हो जाता है, जैसे—

औपधम्=ओसधं

(६) जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है पालि में केवल एक ऊष्म ध्वनि है और वह है दन्त्य 'स'। तालव्य और मूर्द्धन्य ऊष्म ध्वनियों का स्थान इसी ध्वनि ने लिया है। संस्कृत तालव्य 'श' के स्थान पर पालि में 'स' हो जाता है, जैसे—

शव = छव

स्वर-परिवर्तन

संयुक्त व्यजनो और 'निग्गहीत' से पूर्व आने वाले दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है, जैसे—

कार्य = कज्ज
खाद्य = खज्ज
लता = लत

सूचना—काव्य मे मात्रा-काल की दृष्टि से ये ह्रस्व स्वर दीर्घ गिने जाते हैं।

(१) 'अ' का कभी-कभी 'ए' हो जाता है, जैसे—

अत्र = एत्थ
अन्त पुर = अन्तेपुर
फल्गु = फेग्गु
शय्या = सेय्या

(२) 'अ' के स्थान पर कभी-कभी पालि मे 'ई' हो जाता है, जैसे—

तमिस्रा = तिमिस्सा
कस्य = किस्स (Whose)

(३) 'अ' के स्थान पर कभी-कभी 'उ' हो जाता है, जैसे—

पर्जन्य = पज्जुन्न
सद्य = सज्जु
उन्मज्जति = उम्मुज्जति (Lives)

(४) 'अ' के स्थान पर कभी-कभी 'ओ' हो जाता है, जैसे—

सम्मस = सम्मोस

आ—(१) कभी-कभी 'आ' का 'ए' हो जाता है, जैसे—

प्रतिहार = पाटिहेर

इ-ई—(१) कभी-कभी 'इ' का 'अ' हो जाता है, जैसे—

पृथ्वी = पठवी
गृहिणी = घरणी

(२) कभी-कभी 'इ' का 'ए' हो जाता है, जैसे—

विहिंस = विहेसा

विश्वभू=वेस्सभू

(३) कभी-कभी 'इ' का 'उ' हो जाता है, जैसे—
गैरिक=गेरुक (हिन्दी गेरुआ)

(१) कभी-कभी 'ई' के स्थान पर 'अ' हो जाता है, यथा—
कौसीद्य=कोसज्ज

(२) कभी-कभी 'ई' के स्थान पर 'आ' हो जाता है, यथा—
तिरश्ची=तिरच्छान

(३) कभी-कभी 'ई' के स्थान पर 'ए' हो जाता है, यथा—
क्रीड़ा=खेला (Play)

(४) कभी-कभी 'ई' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है, यथा—
√ष्ठीव=√ठुम

उ-ऊ—

(१) 'उ' के स्थान पर कभी-कभी 'अ' हो जाता है, जैसे—
गुरु=गरु
स्फुरति=फरति

(२) 'उ' के स्थान पर कभी-कभी 'इ' हो जाता है, जैसे—
√क्षु (छींकना) के रूप 'खिपति' आदि होते हैं।

(३) 'उ' के स्थान पर 'ओ' हो जाता है, संयुक्त व्यंजन से पूर्व होने पर, जैसे—
उल्का=ओक्का
पुस्तक=पोत्थक

(१) 'ऊ' के स्थान पर कभी-कभी 'आ' हो जाता है, यथा—
भ्रूकुटि=भाकुटि

(२) 'ऊ' के स्थान पर कभी-कभी 'इ' और 'ई' हो जाते है, यथा—
भूयः=भिय्यो, भीयो

(३) कभी-कभी 'ऊ' के स्थान पर 'ओ' भी हो जाता है, यथा—
ऊर्ज=ओज

ए—

(१) 'ए' के स्थान पर कभी-कभी 'अ' हो जाता है, जैसे—

म्लेच्छ=मिलक्ख

(२) 'ए' के स्थान पर कभी-कभी 'आ' हो जाता है, यथा—

केयूर=कायूर

(३) 'ए' के स्थान पर संयुक्त व्यंजनो से पूर्व होने पर 'इ' हो जाता है, जैसे—

उद्वेलापित=उब्बिलापित

प्रतिवेश्मक=पटिविस्सक (Neighbour)

(४) 'ए' के स्थान पर कभी-कभी 'ओ' हो जाता है, यथा—

अतिप्रगे=अतिप्पगो

ओ—

(१) 'ओ' के स्थान पर कभी-कभी 'उ' हो जाता है, यथा—

ज्योत्स्ना=जुण्हा

द्रोह=दुह

व्यंजन-परिवर्तन

पालि मे व्यंजन-परिवर्तन बहुत साधारण है। प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार होते देखे जाते हैं—

(१) 'ज' कभी-कभी 'द' मे बदल जाता है, यथा—

जिघत्सा=दिगच्छा

ज्योत्स्ना=दोसिना

(२) 'च' के स्थान पर कभी-कभी 'त' हो जाता है, यथा—

चिकित्सा=तिकिच्छा

(३) कभी-कभी मध्य 'त' के स्थान पर 'ट' हो जाता है, यथा—

चेतक=चेटक

(४) कभी-कभी 'ट' के स्थान पर 'त' हो जाता है, जैसे—

सेट=सेत

स्फाटिक=फालिक

(५) कभी-कभी प्रत्यय 'त' के स्थान पर 'ट' हो जाता है, जैसे—

दुष्कृत=दुक्कट

(६) 'थ' के स्थान पर 'ठ' हो जाता है, जैसे—

शिथिल=सठिल

(७) 'द' के स्थान पर 'ल' या 'ळ' हो जाता है, जैसे—

दौहृद या दोहद=दोहल

उदार=उळार

(८) 'द' के स्थान पर 'य' हो जाना हैं, जैसे—

स्वादित=सायित

स्वादित=सायित

(९) 'य' साधारणया 'व' में परिवर्तित हो जाता है, यथा—

त्र्यङ्गुलम्=तिवंगुलं

कियत्=कीव

कुलायक=कुलावक

(१०) 'य' के स्थान पर 'व' हो जाता है, जैसे—

जरायु=जलाव

पूय=पुब्ब

(११) 'य' के स्थान पर 'भ' हो जाता है, जैसे—

सरयू=सरभू

(१२) 'य' के स्थान पर 'र' भी हो जाता है, जैसे—

श्रामणेय=सामणेर

(१३) 'य' के स्थान पर 'ल' भी हो जाता है, जैसे—

यष्टि=लट्ठि

(१४) 'य' के स्थान पर 'ह' भी हो जाता है, जैसे—

स्वयपति=सहंपति

रणजय=रनञ्जहो

(१५) 'व' के स्थान पर 'य' हो जाता है, जैसे—

दाव=दाय

(१६) 'व' के स्थान पर 'प' हो जाता है, जैसे—

लाव = लाप
प्रजावती = पजापती

(१७) 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है, जैसे—
रुद्र = लुद्द
परिघ = पलिघ
रोम = लोम
सुकुमार = सुखुमाल

संयुक्त अक्षर

(१) किसी अन्य व्यंजन से युक्त 'य्' प्रायः पालि मे सावर्ण्य नियम के अनुसार तद्रूप हो जाता है, जैसे—तस्य = तस्स, दिव्य = दिब्ब। किन्तु 'क', 'ग' और 'ध' से युक्त होने पर वह नही बदलता, जैसे—वाक्य, भाग्य और व्याधि मे।

(२) 'त' से युक्त होकर 'य' शब्द के मध्य मे 'च्च' मे बदल जाता है, जैसे—सत्य = सच्च, कृत्य = किच्च, मृत्यु = मच्चु। किन्तु किसी शब्द के आदि मे होने पर 'त्य' का 'च' हो जाता है, जैसे—त्याग = चाग।

(३) 'थ' से युक्त होने पर पालि मे 'य', 'च्छ' मे बदल जाता है, जैसे—मिथ्या = मिच्छा।

(४) 'द्' मे युक्त होकर 'य्', 'ज्' मे बदलकर 'द्' को भी 'ज्' मे बदल देता है, जैसे साद्य = खज्ज, विद्युत् = विज्जु, विद्या = विज्जा। किन्तु शब्द के आदि मे आया हुआ 'द्य', 'ज्' मे बदल जाता है, जैसे—द्युति = जुति।

(५) 'ध्' से युक्त 'य' शब्द के मध्य मे 'ज्झ' अथवा 'झ' मे बदल जाता है, जैसे—मध्य = मज्झ, वन्ध्या = वंझा, सन्ध्या = संझा।

(६) शब्द के आदि मे आया हुआ 'ध्य', 'झ' मे बदल जाता है, जैसे—ध्यान = झान।

(७) 'न' या 'ण' से युक्त 'य', 'ञ्ञ' मे बदल जाता है, जैसे—शून्य = सुञ्ञ, अरण्य = अरञ्ञ।

(८) 'ह्' मे युक्त 'य' पालि मे किसी स्वरागम को प्रेरित करता है, जैसे—ह्यः = हिय्यो (Yesterday), किन्तु कभी-कभी वर्णों की स्थिति मे परिवर्तन हो जाता है, जैसे—गुह्य = गुय्ह, वाह्य = वाहिय या वाहिर।

(९) जब 'र्' किसी संयुक्त वर्ण में दूसरे स्थान पर होता है, तो वह तद्रूप हो जाता है, जैसे—पत्र=पत्त, किन्तु ब्रह्म, ब्राह्मण, इन्द्रिय जैसे शब्दों में 'र्' परिवर्तित नहीं होता। 'र्' के 'ह्' से युक्त होने पर 'स्वरभक्ति' हो जाती है, जैसे, ह्री=हिरी। मगर कभी-कभी 'ह्' का लोप भी हो जाता है, जैसे—ह्रस्व=रस्सो।

(१०) 'ह्' और 'य' से युक्त होने के अतिरिक्त, जब 'र्' किसी संयुक्त व्यंजन का प्रथमाक्षर होता है तो वह तदनुरूप हो जाता है, जैसे—कर्म=कम्म, धर्म=धम्म।

(११) जब 'ल्' किसी अन्य व्यंजन से युक्त होता है तो पालि में उन दोनों के मध्य के कोई स्वर आ जाता है, जैसे—क्लेश=किलेस, ग्लान=गिलान, म्लान=मिलान। किन्तु कभी-कभी वह उसी वर्ण के अनुरूप हो जाता है, जैसे—शिल्प=सिप्प, शुक्ल=सुक्क, अल्प=अप्प।

(१२) किसी अन्य व्यंजन से युक्त होने पर 'व्' तदनुरूप हो जाता है, जैसे—पक्व=पक्क, चत्वार=चत्तार।

(१३) कभी-कभी अन्य व्यंजन से युक्त 'व्' अपरिवर्तित रहता है, जैसे—द्वार, विद्वान्, त्वा, स्वान में। मगर कभी संयुक्त व्यंजनों के बीच में कोई स्वर आ जाता है, जैसे—द्वे=दुवे, द्वार=दुवार, स्वस्ति=सुवत्थि।

(१४) 'च्' से युक्त होने पर 'श' पालि में 'च्छ' में परिवर्तित हो जाता है, जैसे, आश्चर्य=अच्छरिय, पश्चिम=पच्छिम।

(१५) संस्कृत 'क्ष्' के स्थान पर पालि में 'क्ख्' हो जाता है, जैसे, चक्षु=चक्खु। किन्तु कभी-कभी 'क्ष्' के स्थान पर 'छ' या 'च्छ' भी हो जाता है, जैसे—क्षमा=छमा, ऋक्ष=अच्छ।

(१६) यदि 'ष्', 'ट्' या 'ठ्' से युक्त हो तो उनके स्थान पर 'ट्ठ' हो जाता है, जैसे—अष्ट=अट्ठ, पृष्ठ=पिट्ठ।

(१७) यदि 'ष्', 'प्' या 'क्' से युक्त हो तो उनके स्थान पर 'प्फ' हो जाता है, जैसे—पुष्प=पुप्फ, निष्फल=निप्फल।

(१८) 'स्', 'क्' या 'ख्' से युक्त होने पर दोनों 'क्क्' या 'क्ख्' में बदल जाते हैं, जैसे, नमस्कार=नमक्कार, पुरस्कार=पुरक्खार।

(१९) 'स्', 'त्' या 'थ्' से युक्त होने पर दोनों 'त्थ्' में बदल जाते हैं, जैसे—पुस्तक=पोत्थक, प्रस्थ=पत्थ। यदि शब्द के आदि में 'स्थ' आवे तो वह 'ठ' में

बदल जाता है, जैसे, स्थान = ठान। मगर कभी-कभी वह 'ख्' में भी बदल जाता है, जैसे—स्थाणु = खाणु।

(२०) 'स्त' कभी-कभी अपरिवर्तित रहता है, जैसे—मस्त में (तुल० थेरी० थेरगाथा) और 'स्थ्' के स्थान पर 'ट्ठ' हो जाता है, जैसे—अस्थि = अट्ठि।

(२१) किसी शब्द के मध्य में आया हुआ 'प्स' 'च्छ' में बदल जाता है, जैसे, अप्सरा = अच्छरा, जुगुप्सा = जिगच्छा, किन्तु किसी शब्द के आदि में होने पर 'स्प्' के स्थान पर 'फ' हो जाता है, जैसे—स्पर्श = फस्सो, स्पन्दन — फन्दन।

(२२) 'स्', 'फ्' संयुक्त होने पर पालि में 'प्फ्' में बदल जाते हैं, जैसे, विस्फार = विप्फार।

(२३) 'श' 'न्' संयुक्त होने पर पालि में 'ह्' में बदल जाते हैं, जैसे, प्रश्न = पण्हो।

(२४) 'ष्' 'ण्' संयुक्त होने पर पालि में 'ण्ह' में बदल जाते हैं, जैसे, कृष्ण = कण्ह, तृष्णा = तण्हा।

कभी-कभी तृष्णा का पालि-रूप 'तसिणा' भी मिलता है।[1]

(२५) यदि 'स्' का योग 'न्' से हो तो उसके स्थान पर 'न्ह्' हो जाता है, जैसे, स्नान = न्हान। मगर 'स्न्' के स्थान पर कभी-कभी 'ण्ह्' भी हो जाता है, जैसे, 'ण्हायति' में।

(२६) 'स्म' का पालि में 'म्ह' हो जाता है, जैसे—अस्मान् = अम्ह। यदि शब्द के आदि में 'श्म' हो तो पालि में उसके स्थान पर म हो जाता है, जैसे—श्मश्रु = मस्सु। कभी-कभी स्थान-परिवर्तन के साथ 'स्' या 'म्' रह जाता है, जैसे—रश्मि = रस्मि।

(२७) 'स्म्' और 'ष्म्' दोनों के स्थान पर 'म्ह' हो जाता है, जैसे—स्मित = म्हित, ग्रीष्म = गिम्ह (तु० थी०, थेरगाथा, ४६०)।

(२८) 'स्मृ' धातु का पालि में 'सर' हो जाता है, जैसे, सरति (Remember) किन्तु इसके 'सुमरति' जैसे रूप भी बनते हैं।[2]

(२९) 'ब्' में संयुक्त 'ह्' का पालि में 'व्ह्' हो जाता है, जैसे, जिह्वा = जिव्हा, आह्वान = अव्हान।

१. [illegible], भूमिका, ९८

२. [illegible], भूमिका, पृष्ठ २७४

संधि-सूत्र

(१) सरासरे लोपं

एक स्वर के पश्चात् दूसरा स्वर आने पर, प्रथम स्वर लुप्त हो जाता है, जैसे—

अथ + एको = अथेको, तथा + एव = तथेव
नोहि + एत = नोहेतं, यस + इन्द्रियानि = यस्मिन्द्रियानि
जम्बु + आदीनि = जम्बादीनि; तयो + अस्सु = तयस्सु
एसो + आवुसो = एसावुसो।

(२) वा परो असरू आ

बाद में असवर्ण स्वर होने पर एक स्वर का निपात हो जाता है, जैसे—
चत्तारो + इमे = चत्तारोमे; को + असि = कोसि
पन + इमे = पनमे

(३) दीघ

जब पूर्वस्वर का निपात हो जाता है तो उसके परे आने वाला स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे—

च + अपि = चापि, च + उभयं = चूभयं,
सद्धा + इध = सद्धीध, यानि + इध = यानीध, तथा + उपम = तथूपमं।

(४) पुब्बोच

जब अनुगामी स्वर का निपात हो जाए तो कभी-कभी पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे—

साधु + इति = साधूति; देव + इति = देवाति, विज्जु + इव = विज्जूव। अपवाद—इति + अस्स = इतिस्स।

(५) यवचासवन्नं लुत्ते

जब पूर्व स्वर लुप्त हो जाए तो अनुगामी स्वर कभी-कभी असमान स्वर में बदल जाता है, अर्थात् अ वा आ + इ वा ई = ए और अ वा आ + उ वा ऊ = ओ होता है।

अव + इच्च = अवेच्च, मुख + उदकं = मुखोदकं, न + उपेति

=नोपेति।

अपवाद—यस्स + इन्द्रियाणि = यस्सिन्द्रियाणि।

तथा + उपम = तथूपम।

(६) य एदन्तस्सादेसो

यदि शब्द के अन्त्य ए के पश्चात् कोई स्वर आये तो 'ए' 'य' में बदल जाता है, जैसे—

मे + अय = म्याय, ते + अस्स = त्यस्स, ते + अहं = त्याहं।

अपवाद—ने + आगत = नागत, पुत्ता मे + अत्थि = पुत्तामत्थि।

(७) व मोदुदन्तान

यदि अन्त्य ओ और उ के पश्चात् कोई स्वर आए तो उनका परिवर्तन 'व्' म हो जाता है, जैसे—

खो + अस्स = खस्स, सो + अस्स = स्वस्स

सु + आगत = स्वागत, अनु + एति = अन्वेति,

बहु + आबाधो = बह्वाबाधो।

अपवाद—चत्तारो + इमे = चत्तारोमे।

(८) दो धस्स च

ध के पश्चात् किसी स्वर के आने पर 'ध' का 'द' हो जाता है। जैसे—

इध + अह = इदाह।

अपवाद—इध + एव = इधेव।

(९) इवण्णो य न वा

यदि इ या ई के पश्चात् कोई स्वर आये तो 'य्' हो जाता है, जैसे—

वि + आकत = व्याकत, वि + अजन = व्यजन।

अपवाद—पचहि + अङ्गेहि = पचहङ्गेहि।

(१०) एवादिस्स रि पुब्बो च रस्सो

यदि किसी दीर्घ स्वर के पश्चात् 'एव' या 'ए' आए तो कभी-कभी 'ए' का 'रि' हो जाता है और दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है, जैसे—

यथा + एव = यथरिव, तथा + एव = तथरिव।

अपवाद—यथा + एव = यथेव, तथा + एव = तथेव।

(११) सब्बो चन्ति

यदि 'इ' के पश्चात् कोई स्वर आए तो कभी-कभी 'इ' के स्थान पर 'य्' हो जाता है, जैसे—

इति + एतं = इच्चेतं, इति + अस्स = इच्चस्स, पति + उत-रित्वा = पच्चुत्तरित्वा, पति + आहरति = पच्चाहरति।

(१२) सरेस्वचि

कभी-कभी स्वर के परे स्वर आने पर वह स्वर नहीं बदलता, जैसे—

को + इम = कोइमं।

(१३) एहेञ्ञ

यदि निग्गहीत के पश्चात् 'ए' या 'ह्' आये तो उसका ञ हो जाता है, जैसे—

एवं + हि = एवञ्हि, एवम्हि, एतं + हि = तञ्हि (या ञ्हि) या तम्हि, तं + एव = तञ्ञेव, एत + हि = एत।

(१४) मदा सरे

यदि निग्गहीत के बाद कोई स्वर आये तो निग्गहीत का 'म्' या 'द्' हो जाता है, जैसे—

तं + अह = तमहं, एतं + अवोच = एतदवोच।

(१५) य व म द न त र ला चागमा

दो स्वरों के बीच में य व म द न त र ल का आगम हो जाता है, जैसे—

मा + इदं = मायिदं, न + इमस्स = नयिमस्स, भत्ता + उदिक्खति = भत्तावुदिक्खति, भग्गो + अनेकायतनं = भग्गोवनेकायतनं; एक + एकं = एकमेक, येन + इध = येनमिध, सम्मा + एव = सम्मदेव, सम्मा + अक्खात = सम्मादक्खात, इतो + आयाति = इतोनायाति, अज्ज + अग्गे = अज्जतग्गे, यस्मा + इह = यस्मातिह, राजा + इव = राजारिव, सब्भि + एव = सब्भिरेव, छ + अभिञ्ञ = छलभिञ्ञा, छ + आयतनं = छलायतनं।

(१६) रस्स

यदि दीर्घ स्वर के परे व्यंजन आये तो स्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे—

भोवादी + नाम = भोवादिनाम, यथा + भावी = यथभावी।

(१७) परद्वेभावो ठाने

स्वर के पश्चात् आये हुए व्यंजन का द्वित्व हो जाता है, जैसे—

इध + पमोदो = इधप्पमोदो, प + वज्ज = पब्बज्ज, चातु + दसी = चातुद्दसी, अभि + क्कन्ताय = अभिक्कन्ताय।

(१८) वग्गन्तं वा वग्गे

यदि निग्गहीत के पश्चात् किसी वर्ग का कोई व्यंजन हो तो निग्गहीत के स्थान पर व्यंजन के वर्ग का अन्तिम वर्ण हो जाता है, जैसे—

तन्हं + करो = तञ्हङ्करो, सुचरितं + चरे = सुचरितञ्चरे, जुतिं + धरो = जुतिन्धरो, सं + ठितो = सण्ठितो, सं + मतो = सम्मतो।

(१९) गो सरे पुथस्सागमो क्वचि

यदि पुथ के पश्चात् कोई स्वर आये तो 'ग्' का आगम हो जाता है, जैसे—

पुथ + एव = पुथगेव।

(२०) पास्स चन्तो रस्सो

यदि 'पा' के बाद कोई स्वर आये तो 'ग्' का आगम हो जाता है, किन्तु 'आ' का 'अ' हो जाता है, जैसे—पा + एव = पगेव।

(२१) अज्झो अधि

यदि 'अधि' के पश्चात् कोई स्वर हो तो 'अधि' का 'अज्झ' हो जाता है, जैसे—

अधि + ओकासो = अज्झोकासो, अधि + आगमा = अज्झागमा।

समास

पालि भाषा में संस्कृत की भाँति ६ समास होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं संस्कृत के नियम से विपरीत प्रकार के समास भी देखे जाते हैं। संस्कृत और पालि के समासों में प्रधान अन्तर संधि-विषयक है। संस्कृत में संधि-नियम का समर्थन इस प्रकार किया गया है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

अर्थात् एक ही पद में, धातु में, उपसर्ग में तथा समास में संहिता (संधि) नित्य होती है। वाक्य में केवल वह (संधि) बोलनेवाले की इच्छा पर निर्भर है कि संधि की जाये या न की जाये।

इस नियम के अनुसार समास में संधि होना आवश्यक है, परंतु पालि में कभी कभी इस नियम का पालन नहीं होता, जैसे—'ज्वलित पज्वलित महाअग्गिक्खन्धो'; 'सनेगम जनपद—अमच्च···परिवुतो'; 'आवट्ट—अमि वेगजनित हुताहतसद्दं', 'इति आदिसु पालिसु' आदि।

संस्कृत के समान पालि में भी तत्पुरुष (तप्पुरिस), कर्मधारय (कम्मधारय), द्वन्द्व (द्वन्द), द्विगु, अव्ययीभाव और बहुव्रीहि (बहुब्बीहि) समास होते हैं।

(१) तत्पुरुष (तप्पुरिस) समास

जिस समास में उत्तर पद प्रधान होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। विभक्तियों के संबंध से इसके अनेक भेद हैं।

(क) द्वितीया तत्पुरुष—अरञ्ञं गतो = अरञ्ञगतो; भूमिगतो = भूमिगतो।

(ख) तृतीया तत्पुरुष—बुद्धेन भासितो = बुद्धभासितो, सुकेन आहट = सुकाहट; विञ्ञुना + ताडितो = विञ्ञुताडितो।

नोट—कहीं-कहीं मध्यम पद का लोप हो जाता है, जैसे—गुळेन संसट्ठो ओदनो = गुळोदनो; अस्सेन युत्तो रथो = अस्सरथो।

(ग) चतुर्थी तत्पुरुष—संघस्स भत्त = संघभत्त; बुद्धस्स देय्यं = बुद्धदेय्यं।

(घ) पञ्चमी तत्पुरुष—नगरम्हा निग्गतो = नगरनिग्गतो, रुक्खस्मा पतितो = रुक्खपतितो; सासनम्हा चुतो = सासनचुतो। चोरा भीतो = चोरभीतो।

(ङ) षष्ठी तत्पुरुष—इसमें प्रथम पद में स्थित दीर्घ ई और ऊ प्रायः ह्रस्व हो जाते हैं, जैसे—नदिया तीरं = नदितीरं; भिक्खुनीनं संघो = भिक्खुनिसंघो; नरानं उत्तमो = नरुत्तमो।

(च) सप्तमी तत्पुरुष—अरञ्ञे वासो = अरञ्ञवासो, धम्मे रतो = धम्मरतो; वने चरति इति = वनचरो; इसी प्रकार थलट्ठो, पब्बतट्ठो आदि रूप होते हैं।

(छ) अलुत्त तप्पुरिस (सं० अलुक् तत्पुरुष समास) इसमें पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता है, जैसे—पभङ्करो, परस्सपद, अत्तनोपदं, कुतोजो अंतेवासिको, उरसिलोमो।

(२) कर्म्मधारय (कम्म धारय) समास

जिस समास मे पूर्वपद विशेषण होता है उसे कर्मधारय समास कहते है। जैसे नील उप्पल = नीलुप्पल।

(क) इस समास में विशेषण 'महन्त' के स्थान मे 'महा' हो जाता है। स्पष्टत यह सस्कृत का प्रभाव है। यदि परवर्ती व्यजन को द्वित्व होता है तो 'महा' के स्थान पर 'मह' ही रह जाता है, जैसे—महन्तो पुरिसो = महापुरिसो, महन्ती नदी = महानदी, महन्त भय = महब्भय।

(ख) सत (सस्कृत—सत्) शब्दके स्थान मे पालि मे 'स' हो जाता है।

(ग) यदि कर्मधारय के दोनो पद स्त्रीलिंगात रहते हैं तो पूर्व पद को पुवद्भाव हो जाता है अर्थात् वहां उसका रूप पुंल्लिग हो जाता है।

(घ) पालि मे भी सस्कृत के समान ही 'नञ्' के नकार के स्थान मे व्यजन से पूर्व अकार तथा स्वर से पूर्व 'अन' हो जाता है, जैसे—असब्भ, अप्पमादो, अनत्थो, अनमुग्य।

(ङ) कुत्सित और हीन अर्थ को द्योतित करने वाले कु के स्थान मे व्यजन से पूर्व 'क' और स्वर से पूर्व 'कद्' हो जाता है।

(३) द्वन्द्व (द्वन्द) समास

जिस समास मे दोनो पद समान रूप से प्रधान होते हैं अथवा जिसमे और-वाचक शब्द का लोप होता है उसे द्वन्द्व समास कहते है। द्वन्द्व समास दो प्रकार के होते हैं. (क) एक वह जिसमे दोनो पद पृथक्-पृथक् अपना महत्त्व रखते है और समस्त पद का वचन दोनो के सयुक्त वचन के अनुसार होता है,

(ख) दूसरा प्रकार है समाहार द्वन्द्व जिसमे दोनो पद मिलकर एक समूह का द्योतन करते हैं; अत नपुसक लिंग (सामान्यत) और एकवचन मे प्रयुक्त होते हैं। प्राणि-अग, सेनाग आदि अनेक अर्थों मे इस समाहारद्वन्द्व का प्रयोग होता है।

·उदाहरण—(क) समणा च ब्राह्मणा च = समणब्राह्मण, देवा च मनुस्सा च = देवमनुस्सा, अग्गी च धूमो च = अग्गिधूमा, धम्मो च अत्थो च = धम्मत्था।

(ख) मुखनासिक, छविमसलोहित, जरामरण, हत्थपाद, हत्थस्स।

(४) द्विगु समास

जिस समास मे पहला पद सख्यावाचक विशेषण होता है, उसे द्विगु समास कहते है। इसके दो भेद होते हैं—(क) समाहारद्विगु और (ख) असमाहार द्विगु।

(क) समाहार द्विगु—यह समूहवाचक होता है और यह सामान्यतः एक-वचन और नपुंसकलिंग में होता है।

जैसे—तिलोक = तीन लोकों का समूह

इसी प्रकार पचगव, द्विरत्तं, चतुसच्चं आदि से समाहार सूचित होता है।

(ख) असमाहार द्विगु—तिभवा (तीन जन्म पृथक्-पृथक्) चतुदिसा, पंचिन्द्रियाणि, सत्तमनानि, चतुसतानि, द्विसतसहस्सानि।

(५) अव्ययीभाव समास

जिस समास में प्रथम पद अव्यय होता है उसे अव्ययी भाव समास कहते हैं। संस्कृत और पालि में इस समास में कोई अन्तर नहीं होता है। अनुरथं, उपगगं, यावज्जीव इत्यादि प्रयोग सस्कृत के समान ही होते है। संस्कृत में अप, परि, बहिः आदि उपसर्गों के योग में पचमी का विकल्प से लोप हो जाता है। पालि में यह वैकल्पिक रूप भी स्वतंत्रता से व्यवहृत होता दिखाई पड़ता है।, जैसे—अपपब्बता अथवा अपपब्बतं, बहिगामा अथवा बहिगामं इत्यादि।

(६) बहुव्रीहि (बहुब्बीहि) समास

जिस समास में अन्य पद प्रधान होता है उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं अर्थात् इस समास में जो दो पद समस्त होते हैं। उनके अतिरिक्त एक तीसरे व्यक्ति का बोध होता है, जैसे सुन्दर + अश्व = सुन्दराश्व शब्द जब घोड़े को द्योतित करता है तो कर्मधारय समास होता है, किन्तु यदि वही न तो सुन्दर को द्योतित करता है और न अश्व को, प्रत्युत उस पुरुष अथवा उस रथ को द्योतित करता है जिसके सुन्दर अश्व हों तो सुन्दर और अश्व के अतिरिक्त एक अन्य व्यक्ति या वस्तु का द्योतन होने के कारण यह बहुव्रीहि समास होगा। बहुव्रीहि विशेषण हो जाता है। अतएव उसके लिंग तथा वचन विशेष्य के अनुरूप होते हैं। जैसे चिन्तहत्थो पुरिसो, सम्पन्नसस्सं खेत्तं आदि। यहाँ चिन्तहत्थो पुरिसो का विशेषण, होने से लिंग और वचन में पुरिसो का अनुकरण करता है। उसी प्रकार सम्पन्नसस्सं खेत्त के अनुसार है।

कारक और विभक्तियाँ

प्रथमा विभक्ति

(१) यो करोति सो कत्ता।

काम का करने वाला कर्त्ता कहलाता है।

प्रथमा विभक्ति का प्रयोग सामान्यत कर्ताकारक मे होता है, जैसे, नरो गच्छति, अस्सो धावति ।

(क) कर्मवाच्य मे कर्तृवाच्य के कर्म के साथ प्रथमा विभक्ति लगती है, जैसे, राजा पुरिसं आनापेति, रञ्ञा पुरिसो आनापितो।

इसका प्रयोग

(ख) आलपने च

किसी को सबोधित करने मे, जैसे, भो पुरिसो ।

(ग) उपसग्गयोगे

उपसर्गों के साथ, जैसे, इति सिटगो त एव अस्स नाम अहोसि ।

(घ) लिङ्गत्थे

लिंग सूचना के लिए जैसे—पुरिसो, एको, वुद्ध

(२) द्वितीया विभक्ति

य करोति त कम्म ।

कर्ता के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह कर्म होता है, जैसे, 'रथ करोति'।

(क) कम्मनि दुतिया

कर्मकारक मे साधारणतया द्वितीया विभक्तिका प्रयोग होता है, जैसे, घट करोति ।

(ख) 'कालद्धान योगे च'।

इसका प्रयोग समय और स्थान की सूचना के लिए भी होता है, जैसे, 'योजन गच्छति', मास अधीते ।

(ग) कम्मपवचनियपुत्ते च

किसी उपसर्ग या क्रिया विशेषण के सम्बन्ध से भी इसका प्रयोग होता है, जैसे, पब्बजित अनुपब्बजिसु ।

त खो पन भगवन्त एव कल्याण कित्तिसद्दो अब्भुग्गतो ।

(घ) गति बुद्धि-भुज-पठ-हर-कर सया दिन धातुन पयोगे ।

गति, जानना, खाना, पढना, चुराना, करना, सोना आदि के अर्थ मे आनेवाली धातुओ के साथ विकल्प से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे, पुरिसो पुरिस गमयति, आचरियो दारक पाठयति ।

(३) तृतीया विभक्ति

करणे तृतीया।

कारण-कारक में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे, कायेन कम्मं करोति।

(क) सहादि-योगे।

'सह' आदि शब्दों के साथ भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे, तेन सह गच्छति।

(ख) कत्तरि च।

कर्मवाच्य मे कर्त्ता को प्रकट करने के लिए भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जैसे, अहिना दट्ठो नरो।

(ख) हेत्वत्थे च।

कारण सूचित करने के लिए भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे, विज्जाय वसति।

(ग) सत्तमी अत्थेच।

सप्तमी के अर्थ में भी तृतीया का प्रयोग मिलता है, जैसे, तेन कालेन।

(घ) येनाङ्गविकारो।

शरीर के किसी अंग को व्यक्त करने के लिए, जिसका रोग शरीर को विकृत करदे, जैसे अक्खिनाकाणो, पादेन खञ्जो।

(ङ) विसेसने च।

किसी विशेषता को व्यक्त करने के लिए भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, जैसे, गोत्तेन गोतमो।

(४) चतुर्थी विभक्ति

यस्स दातुकामो रोचते वा धारयते वा तं सम्पदानं।

जिसको कुछ देने की इच्छा की जाये, या जो किसी वस्तु की इच्छा करे या जिसको कोई वस्तु चाहिए, वह सम्प्रदान कारक मे रखा जाता है, जैसे, (१) बुद्धस्स भत्तं ददाति, (२) देवदत्तस्स रोचते मोदकं, (३) सेट्ठिनो सुवण्ण सतं धारयते यञ्ञदत्त।

'सम्पदाने चतुत्थी'।

चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग सम्प्रदान कारक में होता है, जैसे, वानरो कुम्भी-

लस्स एक फल अदासि ।

(क) सिलाघ-हनु-ठा-सप-धार-पिह-कुध-दुह-इस्स-उसुय्य धातून पयोगे ।
सिलाघ (to flatter), हनु (to hide from), ठा (to wait on) सप (to curse), धार (owe), पिह (to long for) कुध (to be angry with), दुह (to injme), इस्स (to emey) उसुय्य (to detract),
(१) बुद्धस्स सिलाघते, (२) हनुते मय्ह एव, (३) उपतिट्ठेय्य सक्क-पुत्तान वड्ढकि (४) मय्ह सपते, (५) सुवण्ण मे धारयते, (६) देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो, (७) मा मे कुज्झ महावीर, (८) दुहयति दिसान मेघो, (९) तिथिया समणान इस्सयन्ति, उस्सुय्यन्ति वा ।

(ख) पच्चासुण अनुपति गिणान पुब्बकत्तारिच ।
'पति' या 'आ' उपसर्गों के साथ 'सुण' धातु के योग मे, अनु और पति उपसर्गों के साथ 'गिण' धातु के योग मे, जो पहले कर्त्ता म रखा जाता है, वही इन उपसर्गों के साथ होने से चतुर्थी विभक्ति मे रखा जाता है, जैसे,
(१) भिक्खू भगवतो पच्चस्सोसु ।
(२) आसुनन्ति बुद्धस्स भिक्खू ।
(३) तस्स भिक्खुनो जनो अनुगिनाति ।

(ग) आरोचनत्थे ।
आरोचन के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले शब्दो के साथ भी इसी विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे,
(१) आरोचयामि वो भिक्खवे ।
(२) आमन्तयामि वो भिक्खवे ।

(घ) तदत्थे ।
किसी विशेष वस्तु का निमित्त सूचित करने के लिए भी इसका प्रयोग होता है, जैसे,
धम्मस्स अत्थाय जीवित परिच्चजति ।

(ङ) तुमत्थे ।
'तु' प्रत्यय का अर्थ सूचित करने मे भी चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग

होता है, जैसे, हिताय देवमनुस्सानं।

(च) अलं योगे।

"अलं" का भाव सूचित करने में भी चतुर्थी आती है।

जैसे—

(१) अलं मे बुद्ध।

(२) अलं मल्लो मल्लस्स।

(छ) मञ्ञतिप्पयोगे अनादरे अप्पाणिनि।

यदि मञ्ञका का कर्म कोई जीवित प्राणी न हो और अनादर सूचित करना हो तो चतुर्थी का प्रयोग होता है, जैसे, कट्ठस्स तुवं मञ्ञे।

(ज) गत्यत्थ कम्मनि।

गति-सूचक क्रियाओं के कर्म चतुर्थी में होते है। जैसे, अप्पो सग्गाय गच्छति।

(झ) नमो-योगादिस्वपि।

नमो आदि के योग मे भी चतुर्थी आती है, जैसे—

(१) नमो ते बुद्धवीर अत्थु।

(२) सोत्थि पजान।

(३) बुद्धाय नमो।

(५) पंचमी विभक्ति—

यस्मादपेति भयं आदत्ते वा तद् अपादानं।

जहा से कोई अलग हो, जिससे कोई भय हो; जिससे कुछ लिया जाये वहाँ "अपादान" होता है। जैसे—

(१) गामा अपेन्ति मुनयो।

(२) चोरा भयं जायति।

(३) रुक्खा पुप्फ ददाति।

(क) धातुनामानं उपसग्गयोगे दिस्सति च।

कुछ विशेष क्रियाओं, संज्ञाओं और उपसर्गों के सम्बन्ध में पंचमी का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) बुद्धस्मा पराजेन्ति अञ्ञ इत्थिया।

(२) हिमवन्ता पभवन्ति पञ्च महानदियो।

(३) [illegible]

(४) आब्रह्मलोका सद्दो अब्भुग्गतो।

(ख) रक्खनत्थान इच्छित।

रक्षणार्थ सूचक क्रियाओं के सम्बन्ध में इष्ट वस्तु के लिए पंचमी का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) काके रक्खन्ति तण्डुला।

(२) यवा पटिसेधन्ति गावो।

(ग) येन वा अदस्सन।

जिससे छिपने-छिपाने की इच्छा हो। जैसे—

कीव दूरो इतो नलकार-गामो।

(ङ) अन्तिकत्थे।

समीपता दिखलाते समय पंचमी का प्रयोग होता है। जैसे—अन्तिक गामा।

(च) अद्धकालनिम्माने।

स्थान और समय सूचित करने के लिए पंचमी का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) इतो मधुराय चतूसु योजनेसु सङ्कस्सनगर।

(२) इतो तिन्न मासान अच्चयेन परिनिब्बायिस्सामि।

(छ) त्वालोपे कम्माधिकरणेसु।

कर्म और अधिकरण में 'त्वा' के लोप हो जाने पर, जैसे—पासादा पस्सति अर्थात् पासाद आरुहित्वा पस्सति।

(ज) हेतु अत्थे।

कारण के अर्थ में पंचमी का भी प्रयोग होता है। जैसे—

तस्मा एव वदसि।

(झ) कारकमज्झे।

दो शक्तियों के बीच में आने वाली वस्तु को सूचित करनेवाले शब्दों के पश्चात् भी यह विभक्ति आती है। जैसे,

कोसा विज्झति कुञ्जर।

(ञ) निपातप्पयोगेसु।

निपात के प्रयोगों में भी।

रिते सद्धम्मा कुतो सुख।

(६) षष्ठी विभक्ति—

यस्स वा परिग्गहो तं सामी।

जिसका किसी वस्तु पर अधिकार होता है, वह अधिकारी कहलाता है।

(क) सामिस्मिं छट्ठी।

स्वामी के साथ षष्ठी विभक्ति लगती है। जैसे, भिक्खुनो पत्तं।

(ख) निद्धारणे च।

निर्धारण के अर्थ में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे,
मनुस्सानं खत्तियो सूरतमो।

नोट—निर्धारण में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग भी होता है। जैसे,
मनुस्सेसु खत्तियो सूरतमो।

(ग) अनादरे च

अनादर या घृणा के अर्थ में षष्ठी विभक्ति आती है। जैसे,
रुदतो दारकस्स पब्बजि।

नोट—सप्तमी विभक्ति भी ऐसे स्थान पर प्रयुक्त होती है, जैसे,
रुदन्तस्मिं दारकस्स पब्बजि।

(घ) ततियत्थे।

करण के अर्थ में भी। जैसे, कत मे पाप।

(ङ) दुतियापञ्चमीनञ्च।

द्वितीया और पञ्चमी के अर्थ में भी। जैसे,

(१) तस्स कम्मस्स कत्तारो।

(२) सब्बे तसन्ति दण्डस्स।

(३) भायामि नागस्स।

(७) सप्तमी विभक्ति—

यो आधारो तं ओकासं

आधार को अवकाश या अधिकरण कहते हैं।

(क) ओकासे सत्तमी।

अधिकरण के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे,
पापस्मिं रमति मनो।

(ख) काल भावेसु।

काल के अर्थ में भी अधिकरण होता है, जैसे,
भिक्खुसंघेसु भुञ्जियमानेसु गतो, भुत्तेसु आगतो।

(ग) उपाध्यधिकिस्सरवचने।
श्रेष्ठता-सूचक शब्दों में "उप" और "अधि" के साथ सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे,

(१) उपखारियं दोणो।
(२) अधिदेवेसु बुद्धो।

(घ) कम्मकरणनिमित्तत्थेसु सत्तमी।
सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर्म और करण कारक के अर्थ में और सूचित करने के लिए भी होता है, जैसे,

(१) आजीवका भिक्खुसु अभिवादेन्ति।
(२) पत्तेसु पिण्डाय चरन्ति।
(३) कुञ्जरो दन्तेसु हञ्ञते।

विशेष—यह अन्यत्र कहा गया है कि पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम हैं। वचनों और विभक्तियों में भी पालि ने ह्रास ही व्यक्त किया है। हिन्दी की भाँति पालि में भी द्विवचन नहीं होता और उसका काम बहुवचन से लिया जाता है। एक की विवक्षा में एकवचन और एक से अधिक की विवक्षा में अनेकवचन का प्रयोग होता है। विभक्तियाँ भी कम हैं। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में कोई अन्तर नहीं है। अन्य विभक्तियों में भी बहुत कुछ समता मिलती है। जिस प्रकार संस्कृत में नपुंसकलिंग में प्रथमा और द्वितीया के रूप समान होते हैं, उसी प्रकार पालि में भी अनेक शब्दों में प्रथमा और द्वितीया के अनेक वचन के रूप समान होते हैं। तृतीया और पंचमी के अनेक वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते हैं।

स्वरान्त पुंल्लिंग संज्ञाओं के रूप कुछ विभक्तियों में सर्वनामों के रूपों के समान भी हो जाते हैं, जैसे बुद्धा, बुद्धस्मा, बुद्धे, बुद्धस्मिं।

कुछ उदाहरणों में प्राचीन रूप भी सुरक्षित हैं, जैसे प्रथमा बहुवचन में 'आसे' और तृतीया बहुवचन में 'एभि'।

स्त्रीलिंग की संज्ञाओं के तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक के एकवचन के रूप समान होते हैं।

पालि में अन्त्य व्यंजन का निपात हो जाता है और आधार सर्वदा स्वरान्त होता

है, किन्तु इन आधारों के रूपों में नये रूपों के साथ प्राचीन व्यञ्जनान्त रूप भी दिखाई पड़ते हैं। जैसे, रञ्ञो, राजस्स। यहाँ 'रञ्ञो' शब्द में संस्कृत शब्द 'राज्ञः' की ध्वन्यात्मक विक्रिया स्पष्ट है।

उन शब्दों के रूप, जिनके अन्त में 'ऋ' होता था, पुराने ही रख लिये गये हैं और विभक्तियों में नये रूप जोड दिये गये हैं, किन्तु यह बात केवल तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक ही लागू होती है, जैसे पितरा, पितुना (तुलना कीजिये वैदिक रूप पितरा, मातरा) जो प्रथमा में प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार पालि में दो प्रकार के रूप दिखाई पड़ते है : एक तो वे जो स्वरान्त शब्दों से बनते हैं और दूसरे वे जिनके अंत में संस्कृत में व्यंजन होते हैं।

विभक्तियाँ

	ए० व०	अनेक व०
पठमा	सि	यो
दुतिया	अं	यो
ततिया	ना	हि
चतुत्थी	स	न
पञ्चमी	स्मा	हि
छट्ठी	स	न
सत्तमी	स्मि	सु
आलपनं	सि	यो

नोट—इन नियमों के अतिरिक्त विशेष शब्दों में विशेष नियम दिखाई पड़ते हैं। तृतीया और पंचमी के अनेक वचन के 'हि' के स्थान में विकल्प से 'भि' पाया जाता है तथा पंचमी एकवचन के 'स्मा' के स्थान में 'म्हा' और सप्तमी एकवचन 'स्मि' के स्थान में 'म्हि' भी मिलता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि पालि में व्यंजनान्त पदों का प्रायः प्रयोग नहीं होता, इसलिए अजन्त और हलंत भेद की इसमें योग्यता नहीं है; तथापि संस्कृत में जो पद स्वरान्त हैं उनके पालि रूपों में तथा संस्कृत व्यंजनान्त पद जो पालि में स्वरान्त हो जाते हैं, उनके रूपों में बहुत अन्तर पाया जाता है, इसलिए संस्कृत के आधार पर स्वरान्त और व्यंजनान्त भेद ले ने से यहाँ भी सुविधा होगी।

स्वरान्त शब्द

सामान्य टिप्पणियाँ—(१) अकारान्त पुंल्लिंग शब्द के बाद 'सि' का 'ओ' हो जाता है, किन्तु अकारान्त नपुंसक लिंग शब्द के बाद मे 'सि' 'निग्गहीत' हो जाता है अन्य रूपो मे वह विलीन हो जाता है।

(२) अकारान्त पुंल्लिंग शब्द के बाद 'यो' विगलित हो जाता है और 'अ' के स्थान पर 'आ' हो जाता है, जैसे 'बुद्धा'।

(३) पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग आधार-शब्दो का अन्त्य स्वर 'यो' से पहले विकल्प से दीर्घ हो जाता है तथा अनेक वचन म 'यो' का लोप हो जाता है। नपुसक लिंग के आधार शब्दो के बाद मे 'यो' का 'आनि' हो जाता है।

(४) किसी आधार-शब्द मे जुडने पर 'अ' का 'निग्गहित' हो जाता है।

(५) अकारान्त पुंल्लिंग शब्दाधारो के पूर्व द्वितीया अनेक वचन का 'यो' 'ए' मे परिवर्तित हो जाता है।

(६) अकारान्त पुंल्लिंग शब्दो के बाद का 'ना' 'एन' मे बदल जाता है।

(७) अकारान्त शब्दो से 'हि' के स्थान पर 'एहि' हो जाता है।

(८) अकारान्त शब्दो की चतुर्थी विभक्ति म 'स' के स्थान पर विकल्प से 'आय' हो जाता है।

साधारणत अन्त मे 'स' के आने पर बीच मे दूसरे 'स' का आगम हो जाता है।

(९) जब अन्त मे 'न' आता है तो आधार का अंतिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

(१० अकारान्त शब्दो के रूप मे आने वाला 'स्मा' विकल्प से 'आ' मे बदल जाता है, किन्तु इकारान्त और उकारान्त पुंल्लिंग और नपुसक लिंग के शब्दो के बाद मे वह 'नो' तथा 'ना' मे बदल जाता है।

(११) अकारान्त शब्दो के 'स्मि' 'ए' और 'म्हि' तथा स्त्रीलिंग शब्द रूपों मे उसके स्थान पर 'य' हो जाता है।

(१२) 'सु' से पूर्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्दो के अन्त मे होने वाले 'इ' तथा 'उ' दीर्घ हो जाते हैं तथा 'अ' के स्थान पर 'ए' हो जाता है।

(१३) अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के बाद मे तृतीया विभक्ति से लेकर अन्य विभक्तियों तक के एकवचन मे 'आय' हो जाता है।

(१४) इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीवाचक शब्दों के बाद में तृतीया विभक्ति से सप्तमी विभक्ति तक के एकवचन के प्रत्यय 'या' में बदल जाते हैं।

सुबन्त-रूप

अकारान्त पुल्लिंग शब्द (बुद्ध)

	ए० व०	ब० व०
पठमा— १	बुद्धो	बुद्धा
दुतिया— २	बुद्ध	बुद्धे
ततिया— ३	बुद्धेन	बुद्धेभि, बुद्धेहि
चतुत्थी— ४	बुद्धाय, बुद्धस्स	बुद्धान
पञ्चमी—५	बुद्धा, बुद्धस्मा, बुद्धम्हा	बुद्धेभि, बुद्धेहि
छट्ठी— ६	बुद्धस्स	बुद्धानं
सत्तमी— ७	बुद्धे, बुद्धम्हि, बुद्धस्मि	बुद्धेसु
आलपन—८	बुद्ध, बुद्धा	बुद्धा

नोट—ऊपर लिखे रूपों को देखने से यह विदित होता है कि अकारान्त शब्दों के प्रत्यय इस प्रकार हैं—

	ए० व०	ब० व०
१.	ओ	आ
२.	ं	ए
३.	एन	एहि, एभि
४.	स्स, आय	आन
५.	आ, स्मा, म्हा	एहि, एभि
६.	स्स	आनं
७.	इ, स्मि, म्हि	सु

प्रथमा बहुवचन में कभी-कभी 'आसे' प्रत्यय भी देखा जाता है, जैसे—'पञ्चिताने' (थेरगाथा, १०२), 'गतासे' (दीघ निकाय, II, पृ० २५५)। कदाचित् यह वैदिक रूप 'देवास' की छाया में स्थित है। इसी प्रकार तृतीया एक वचन में भी ऐसे रूप मिलते हैं—जैसे, 'बाहसा' (थेरगाथा, ११२७), 'बलसा' (थेरगाथा, ११४१), 'मुखसा' (पेतवत्थु)। कभी-कभी पचमी एकवचन का रूप शब्द के अन्त में 'तो' लगाकर भी बनता है, जैसे—बुद्धतो। यह 'तो' संस्कृत

प्रत्यय 'तस्' का ही विकार है।

इसी तरह पंचमी और सप्तमी के एकवचन के 'स्मा' और 'स्मि' सर्वनामो के अनुकरण मे प्रयुक्त हुए हैं। प्रायः सभी अकारान्त पुल्लिग शब्द 'बुद्ध' शब्द के समान चलते हैं, जैसे, नर, सुर, असुर, नाग, यक्ख, गन्धब्ब, किन्नर, मनुस्स, सीह, मिग, कोध, धम्म, मार आदि।

अकारान्त नपुसक लिंग शब्दों के रूप कुछ भिन्न होते हैं। जिस प्रकार सस्कृत मे प्रथमा और द्वितीया दोनो मे समान रूप होते हैं, उसी प्रकार पालि मे भी प्रायः साम्य है और सस्कृत के एकवचन और बहुवचन के 'अनुस्वार' और 'आनि' 'पालि' मे भी आ पहुंचे है।

इकारान्त पुंल्लिग शब्द : (मुनि)

	ए० व०	अ० व०
१.	मुनि	मुनी, मुनयो
२.	मुनिं	मुनी, मुनयो
३.	मुनिना	मुनीहि, मुनीभि
४.	मुनिस्स, मुनिनो	मुनीन
५.	मुनिना, मुनिस्मा, मुनिम्हा	मुनीहि, मुनीभि
६	मुनिस्स, मुनिनो	मुनीन
७	मुनिस्मि, मुनिम्हि	मुनीसु
८.	मुनि	मुनी, मुनयो

नोट—इसि, अग्गि, गिरि, रवि, कपि, हरि आदि के रूप मुनि की भाँति होते हैं।

सखा (-मित्र)

	ए० व०	अ० व०
१.	सखा	सखायो, सखानो, सखिनो
२.	सखार सखान, सखं	सखायो, सखानो, सखिनो
३.	सखिना	सखेहि, सखेभि, सखारेहि, सखारेभि
४.	सखिस्स, सखिनो	सखीन, सखारान
५.	सखिना	सखेहि, सखेभि, सखारेहि, सखारेभि
६.	सखिस्स, सखिनो	सखीन, सखारान
७.	सखे	सखेसु, सखारेसु

८.	सख, सखे, सखा, सखि, सखी	सखायो, सखानो, सखिनो

उकारान्त पुंल्लिग शब्द : (भिक्खु)

	ए० व०	ब० व०
१.	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो
२	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो
३.	भिक्खुना	भिक्खूहि, भिक्खूभि
४.	भिक्खुनो, भिक्खुस्स	भिक्खून
५.	भिक्खुना, भिक्खुस्मा, भिक्खुम्हा	भिक्खूहि, भिक्खूभि
६.	भिक्खुस्स, भिक्खुनो	भिक्खून
७.	भिक्खुस्मि, भिक्खुम्हि	भिक्खूसु
८.	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो, भिक्खवे।

नोट—बन्धु, मच्चु (मृत्यु) बाहु, तरु, भानु, साधु, मेरु, आदि शब्दों के रूप भिक्खु के समान होते है।

उकारान्त पुंलिग शब्द : (सयंभू)

	ए० व०	ब० व०
१.	सयभू	सयभू, सयभुवो
२.	सयभु	सयभू, सयभुवो
३.	सयभुना	सयभूभि, सयभूहि
४.	सयंभुस्स सयंभुनो	सयभूनं
५.	सयंभुना, सयभुस्मा, सयंभुम्हा	सयभूहि, सयभूभि
६.	सयंभुस्स, सयंभुना	सयंभूनं
७.	सयंभुस्मि, सयभुम्हि	सयंभूसु
८.	सयभू	सयभू, सयंभुवो

नोट—अतिभू, वेस्सभू, सहभू आदि शब्दों के रूप 'सयभू' की भांति ही होते हैं।

वे शब्द जिनके अन्त मे संस्कृत मे 'ऋ' होता है—

पितु (पितृ)

	ए० व०	ब० व०
१.	पिता	पिता, पितरो

२	पितर	पितरो, पितरे
३.	पितरा, पितुना	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि
४.	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितान, पितरान
५	पितरा, पितुना	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि
६.	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितून, पितुन, पितुन्न
७.	पितरि	पितरेसु
८.	पित, पिता	पितरो

नोट—जामातु, भातु आदि शब्दों के रूप इसी प्रकार चलते हैं।

कत्तु (Master)

	ए० व०	ब० व०
१.	कत्ता	कत्तारो
२.	कत्तार	कत्तारो, कत्तारे
३.	कत्तारा, कत्तुना	कत्तारेहि, कत्तारेभि
४.	कत्तु, कत्तुनो, कत्तुस्स	कत्तारान, कत्तान, कत्तून
५.	कत्तारा, कत्तुना)	कत्तारेहि, कत्तारेभि
६	कत्तु, कत्तुनो, कत्तुस्स	कत्तून
७	कत्तरि	कत्तारेसु, कत्तूसु
८.	कत्त, कत्ता	कत्तारो

नोट—भातु, मत्तु, नेतु, धातु, जेतु, दातु आदि के रूप 'कत्तु' के समान होते हैं।

ओकारान्त शब्द गो

	ए० व०	ब० व०
१.	गो	गावो, गवो
२.	गाव, गव, गावु	गावो, गवो
३.	गावेन, गवेन,	गोहि, गोभि
४	गावस्स, गवस्स	गोन, गुन्न, गव
५.	गावा, गावस्मा, गावह्मा गवा, गवस्मा, गवह्मा	गोहि, गोभि
६.	गावस्स, गवस्स	गोन, गुन्न, गव
७	गावे, गावस्मि, गावह्मि, गवे	गावेसु, गवेसु, गोसु

	गावस्मिं, गवह्मि,	
८.	गो	गावो, गवो

स्वरान्त स्त्री प्रत्यय

आकारान्त शब्द : लता

	ए० व०	ब० व०
१.	लता	लता, लतायो
२.	लतं	लता, लतायो
३.	लताय	लताभि, लताहि
४.	लताय	लतानं
५.	लताय	लताभि, लताहि
६.	लताय	लतानं
७.	लताय, लतायं	लतासु
८.	लते	लता, लतायो

नोट—सद्धा, मेधा, पञ्ञा, कञ्ञा, तण्हा, विज्जा, निसा, वाचा, गोधा, मुसा, सीता, माला आदि शब्दों के रूप लता की भाँति बनते हैं।

इकारान्त शब्द : मति

	ए० व०	ब० व०
१.	मति	मती, मतियो
२.	मतिं	मती, मतियो
३.	मतिया	मतीभि, मतीहि
४.	मतिया	मतीनं
५.	मतिया	मतीभि, मतीहि
६.	मतिया	मतीनं
७.	मतिया, मतियं	मतीसु
८.	मति	मती, मतियो

नोट—मति, रत्ति, गति, धिति, रति, इद्धि, मुत्ति, बुद्धि, बोधि, पालि आदि शब्दों के रूप मति की भाँति बनते हैं।

ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द · नदी

	ए० व०	ब० व०
१.	नदी	नदी, नदियो, नज्जो
२.	नदी	नदी, नदियो, नज्जो
३.	नदिया, नज्जा	नदीभि, नदीहि
४.	" "	नदीन
५.	" "	नदीहि, नदीभि
६.	" "	नदीन
७	नदिया, नज्जा, नज्ज, नदिय	नदीसु
८	नदि	नदी, नदियो, नज्जो

नोट—वेतरणी, वापी, कुमारी, तरुणी, देवी, नारी, गिरी, इत्थी आदि शब्दों के रूप इसी प्रकार चलते हैं।

उकारान्त स्त्रीलिंग शब्द धेनु

	ए० व०	ब० व०
१.	धेनु	धेनू, धेनुया
२.	धेनु	धेनू, धेनुयो
३	धेनुया	धेनूहि, धेनूभि
४.	धेनुया	धेनून
५.	धेनुया	धेनूहि, धेनूभि
६	धेनुया	धेनून
७	धेनुय, धेनुया	धेनूसु
८	धेनु	धेनू, धेनुयो

नोट—यागु, रज्जु, यागु, कच्छु, विज्जु, धातु आदि शब्दों के रूप धेनु की भाँति ही बनते हैं।

ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्द वधू

	ए० व०	ब० व०
१.	वधू	वधू, वधुयो
२.	वधू	वधू, वधुयो
३	वधुया	वधूहि, वधूभि

४.	वधुया	वधूनं
५.	वधुया	वधूभि, वधूहि
६.	वधुया	वधूनं
७.	वधुया, वधुय	वधूसु
८.	वधु	वधू, वधुयो

नोट—जवू, सरभू, सतनू, चमू, वामोरु आदि शब्दों के रूप 'वधू' के समान बनते हैं।

मातु (माँ)

	ए० व०	अ० व०
१.	माता	मातरो, माता
२.	मातर	मातरे, मातरो
३.	मतरा, मातुया, मात्या	मातरेहि मातरेभि, मातूहि, मातूभि
४.	मातु, मातुया, मात्या	मातरानं, मातानं, मातुनं, मातुन्न
५.	मातरा, मातुया, मात्या	मातरेहि, मातरेभि, मातूहि मातूभि
६.	मातु, मातुया, मात्या, मातुस्स	मातानं, मातून, मातुन्नं, मातरानं
७.	मातरि, मातुया, मात्या, मातुय मात्यं	मातूसु, मातरेसु
८.	मात, माता	माता, मातरो

धीतु (पुत्री=दुहितृ)

	ए० व०	अ० व०
१.	धीता	धीता, धीतरो
२.	धीतरं, धीतं	धीतरो, धीतरे
३.	धीतरा, धितुया	धीतरेहि, धीतरेभि, धीतूहि, धीतूभि
४.	धीतु, धितुया	धीतान, धीतून, धीतरानं
५.	धीतरा, धीतुया	धीतारेहि, धीतारेभि, धीतूहि, धीतूभि
६.	धीतु, धितुया	धीतानं, धीतून, धीतरानं
७.	धीतरि, धीतुया, धीतुय	धीतरेसु, धीतूसु
८.	धीत, धीता	धीता, धीतरो

व्यंजनान्त शब्द

पालि में व्यजनान्त पदों का प्रयोग प्राय नहीं होता। जो शब्द सस्कृत में व्यजनान्त है, पालि व्याकरण के अनुसार जब वे स्वारान्त हो जाते है, तब भी उनके रूप में साधारण स्वारान्त पदो की अपेक्षा भेद रहता है और प्राय सस्कृत के व्यजन नकार, तकार आदि स्वारान्त पदो पर भी अपना प्रभाव प्रकट करते हैं। अतएव जो व्यजनान्त पद पालि में स्वरान्त हो गए है उन्हे सुकरता के लिए पृथक् रखना ही समीचीन होगा।

अत्ता (आत्मन्) शब्द

	ए० व०	अ० व०
१	अत्ता	अत्ता, अत्तानो
२	अत्तान, अत्त	अत्तानो, अत्ते
३	अत्तना, अत्तेन	अत्तनेहि, अत्तनेभि, अत्तेहि, अत्तेभि
४.	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तान
५	अत्तना, अत्तस्मा, अत्तम्हा	अत्तनेभि, अत्तनेहि, अत्तेहि, अत्तेभि
६	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तान
७	अत्तनि, अत्ते, अत्तस्मि, अत्तम्हि	अत्तनेसु
८.	अत्त, अत्ता	अत्तानो, अत्ता

नोट—अद्दा, मुद्धा, आतुमा आदि के रूप 'अत्ता' के समान होते हैं।

ब्रह्मा शब्द

	ए० व०	अ० व०
१	ब्रह्मा	ब्रह्मानो
२	ब्रह्मान, ब्रह्म	ब्रह्मानो
३	ब्रह्मना (ब्रह्मुना)	ब्रह्मेहि, ब्रह्मेभि, ब्रह्मुहि, ब्रह्मुभि
४	ब्रह्मस्स, ब्रह्मनो	ब्रह्मान, ब्रह्मुन
५.	ब्रह्मना (ब्रह्मुना) ब्रह्मस्मा ब्रह्मम्हा	ब्रह्मेहि, ब्रह्मेभि, ब्रह्मुहि, ब्रह्मुभि
६	ब्रह्मस्स, ब्रह्मनो	ब्रह्मान, ब्रह्मुन
७	ब्रह्मनि, ब्रह्मे, ब्रह्मस्मि,	ब्रह्मेसु

	एक वचन	अ० व०
	ब्रह्मम्हि	
८.	ब्रह्मे	ब्रह्मानो, ब्रह्मा

राजा

	ए० व०	अ० व०
१.	राजा	राजानो, राजा
२.	राजानं, राज	राजानो
३.	रञ्ञा, राजेन, राजिना	राजूहि, राजूभि, राजेहि, राजेभि
४.	रञ्ञो, राजिनो, राजस्स	रञ्ञं, राजूनं, राजानं
५.	रञ्ञा, राजस्मा, राजम्हा	राजूहि, राजूभि, राजेहि, राजेभि
६	रञ्ञे, राजिनो, राजस्स	रञ्ञं, राजून, राजानं
७.	रञ्ञे, राजिनि, राजस्मि राजम्हि	राजुसु, राजेसु
८.	राज, राजा	राजानो, राजा

पुमा (पुमान्)

	ए० व०	अ० व०
१.	पुमा, पुमो	पुमा, पुमानो
२.	पुमान, पुमं	पुमानो, पुमाने, पुमे
३.	पुमाना, पुमुना, पुमेन	पुमानेहि, पुमानेभि, पुमेहि, पुमेभि
४.	पुमुनो, पुमस्स	पुमानं
५.	पुमाना, पुमुना, पुमा, पुमस्मा, पुमम्हा	पुमेभि, पुमेहि, पुमानेहि पुमानेभि
६.	पुमुनो, पुमस्स	पुमानं
७.	पुमाने, पुमे, पुमस्मिं, पुमम्हि	पुमानेसु, पुमासु, पुमेसु
८.	पुम, पुम	पुमानो, पुमा

सा (श्वा)

	ए० व०	अ० व०
१.	सा	सा, सानो
२.	स, सान	से, साने
३.	सेन, साना	साने, सेहि, सेभि, साहि, साम्हि

४	सस्स, साय	सान
५	सा, सस्मा, सम्हा, साना	सेहि, सेभि, सानेहि, सानेभि
६	सस्स	सान
७	से, सस्मि, सम्हि, साने	सासु
८	स	सा, सानो

गुणवन्तु शब्द—पुल्लिग (गुणवत्)

	ए० व०	ब० व०
१	गुणवा	गुणवन्तो, गुणवन्ता
२	गुणवन्त	गुणवन्ते
३	गुणवता, गुणवन्तेन	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
४	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवत, गुणवन्तान
५	गुणवता, गुणवन्ता गुणवन्तस्मा, गुणवन्तम्हा	गुणवन्तेहि, गुणवन्तेभि
६	गुणवतो, गुणवन्तस्स	गुणवत, गुणवन्तान
७	गुणवत्ति, गुणवन्ते गुणवन्तस्मि, गुणवन्तम्हि	गुणवन्तेसु
८	गुणव, गुणव, गुणवा	गुणवन्तो, गुणवन्ता

नोट—कुलवन्तु यसवन्तु, भगवन्तु, चक्खुमन्तु आदि शब्दों के रूप इसी प्रकार बनते हैं।

गच्छन्त शब्द (गच्छत्) पुल्लिग

	ए० व०	ब० व०
१	गच्छ, गच्छन्तो	गच्छ, गच्छन्तो, गच्छन्ता
२	गच्छन्त	गच्छन्त
३	गच्छता, गच्छन्तेन	गच्छन्तेभि, गच्छन्तेहि
४	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छत, गच्छन्तान
५	गच्छता, गच्छन्ता गच्छन्तस्मा, गच्छन्तम्हा	गच्छन्तेहि, गच्छन्तेभि
६	गच्छतो, गच्छन्तस्स	गच्छन्त, गच्छन्तान
७	गच्छति, गच्छन्ते, गच्छन्तस्मि,	गच्छन्तेसु

	गच्छन्तम्हि	
८.	गच्छन्तं	गच्छन्ता

नोट—चरन्त, तिट्ठन्त, रुदन्त, सुणन्त, पचन्त आदि शब्दों के रूप गच्छन्त के समान होते हैं।

युव (युवन्) शब्द

	ए० व०	ब० व०
१.	युवा (यूनो)	युवा, युवानो, युवाना
२	युवान, युव	युवाने, युवे
३.	युवाना, युवनेन, युवेन	युवानेहि, युवानेभि, युवेहि, युवे
४.	युवानस्स, युवस्स	युवानानं, युवानं
५.	युवाना, युवानस्मा, युवानम्हा	युवानेहि, युवानेभि, युवेहि, युवेभि
६.	युवानस्स, युवस्स	युवानानं, युवानं
७.	युवाने, युवे, युवानस्मि युवानम्हि, युवस्मि, युवम्हि	युवानेसु, युवासु, युवेसु
८.	युव, युवा, युवान, युवाना	युवानो, युवाना

स्वरान्त नपुंसक लिंग शब्द

अकारान्त शब्द—फल

	ए० व०	ब० व०
१.	फल	फला, फलानि
२.	फल	फले, फलानि
३.	फलेन	फलेभि, फलेहि
४.	फलाय, फलस्स	फलानं
५.	फला, फलम्हा, फलस्मा	फलेभि, फलेहि
६.	फलस्स	फलानं
७.	फले, फलम्हि, फलस्मि	फलेसु
८.	फल, फला	फलानि

नोट—हृदय, चित्त, पदुम, चीवर, सील, धन, इन्द्रिय आदि शब्दों के रूप फल की भाँति होते हैं।

इकारान्त शब्द—अत्थि (अस्थि)

	ए० व०	ब० व०
१.	अत्थि	अत्थीनि, अत्थि
२.	अत्थि	अत्थीनि, अत्थी
३.	अत्थिना	अत्थीभि, अत्थीहि
४.	अत्थिनो, अत्थिस्स	अत्थीन
५	अत्थिमा, अत्थिम्हा, अत्थिस्मा	अत्थीभि, अत्थीहि
६	अत्थिनो, अत्थिस्स	अत्थीन
७	अत्थिनि, अत्थिम्हि, अत्थिस्मि	अत्थीसु
८.	अत्थि	अत्थीनि, अत्थी

नोट—दधि, वारि, अक्खि आदि शब्दों के रूप अत्थि की तरह ही बनते हैं।

उकारान्त शब्द—मधु

	ए० व०	ब० व०
१.	मधु	मधू, मधूनि
२.	मधु	मधू, मधूनि।

शेष विभक्तियों में 'मधु' के रूप 'भिक्खु' के समान होते हैं।

नोट—वत्थु, अम्बु, अस्सु आदि शब्दों के रूप मधु के समान चलते हैं।

विशेषण—सब्ब (सर्व) पुल्लिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	सब्बो	सब्बे
२.	सब्बं	सब्बे
३.	सब्बेन	सब्बेभि, सब्बेहि
४	सब्बस्स	सब्बेस, सब्बेसान
५.	सब्बम्हा, सब्बस्मा	सब्बेभि, सब्बेहि
६.	सब्बस्स	सब्बेस, सब्बेसान
७	सब्बम्हि, सब्बस्मि	सब्बेसु
८.	सब्ब, सब्बा	सब्बे

सब्ब (सर्व)—स्त्रीलिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	सब्बा	सब्बा, सब्बायो
२.	सब्ब	सब्बा, सब्बायो
३.	सब्बाय	सब्बाभि, सब्बाहि
४.	सब्बस्सा, सब्बाय	सब्बासं, सब्बासानं
५.	सब्बाय	सब्बाभि, सब्बाहि
६.	सब्बस्सा, सब्बाय	सब्बासं, सब्बासानं
७.	सब्बस्सं, सब्बायं	सब्बासु

सब्ब (सर्व) नपुंसकलिंग

	ए० व०	ब० व०
१	सब्ब	सब्बानि
२.	सब्बं	सब्बानि

शेष पुल्लिंगवत् चलते हैं।

नोट—पुब्ब (पूर्व) शब्द के रूप सब लिंगों में 'सब्ब' के समान ही होते हैं। कतर, कतम, उभय, इतर, अञ्ञ, अञ्ञतर, अञ्ञतम आदि शब्दों के रूप भी 'सब्ब' की भाँति चलते हैं। पालि में पुब्ब, पर, अपर, दक्खिन, उत्तर शब्दों के रूप सर्वथ 'सब्ब' के समान होने पर भी प्रथमा और संबोधन के बहुवचन में, तथा पंचमी और सप्तमी के एकवचन में विकल्प से 'बुद्ध' शब्द के रूपों के समान होते हैं। स्त्रीलिंग में—चतुर्थी, षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में, विकल्प में कञ्ञा शब्द के समान रूप होते है। इसी तरह नपुसक लिंग में पंचमी और सप्तमी के एकवचन में विकल्प से चित्त शब्द के समान ही रूप होते हैं।

य (यद्) पुल्लिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	यो	ये
२.	य	ये
३.	येन	येभि, येहि
४.	यस्स	येस, येसान
५.	यम्हा, यस्मा	येभि, येहि

६.	यस्स	येस, येसानं
७.	यम्हि, यस्मि	येसु

या (यद्)—स्त्रीलिंग

१.	या	या, यायो
२.	य	या, यायो
३.	याय	याभि, याहि
४.	यस्सा, याय	यास, यासान
५.	याय	याभि, याहि
६.	यस्सा, याय	यास, यासान
७.	यस्म, याय	यासु

या (यद्)—नपुंसक लिंग

१.	य	ये, यानि
२.	य	ये, यानि
३.	येन	येभि, येहि
४.	यस्स	येस, येसान
५.	यस्मा, यम्हा	येभि, येहि
६.	यस्स	येस, येसान
७	यस्मि, यम्हि	येसु

एत (एतद्)—पुल्लिंग

१.	एसो	एते
२.	एत, एत	एते
३.	एतेन	एतेभि, एतेहि
४.	एतस्स	एतेस, एतेसान
५.	एतस्मा, एतम्हा	एतेभि, एतेहि
६.	एतस्स	एतेस, एतेसान
७	एतस्मि, एतम्हि	एतेसु

एत (एतद्)—स्त्रीलिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	एसा	एता, एतायो

२.	एतं	एता, एतायो
३.	एताय	एताभि, एताहि
४.	एतिस्साय, एतिस्सा, एताय	एतासं, एतासानं
५.	एताय	एताभि, एताहि
६.	एतिस्साय, एतिस्सा, एताय	एतेसं, एतेसानं
७.	एतिस्सं, एतस्सं, एतायं	एतासु

एत (एतद्) नपुंसकलिंग

१.	एत	एते, एतानि
२.	एत	एते, एतानि

शेष रूप पुंलिंगवत्।

सो (तद्)

	ए० व०	ब० व०
१.	सो	ते, ने
२.	त, न	ते, ने
३.	तेन, नेन	तेभि, तेहि, नेभि, नेहि
४.	तस्स, नस्स	नेसं, तेसानं, नेस, नेसान
५.	तस्मा, तम्हा, नस्मा, नम्हा	नेभि, तेहि, नेभि, नेहि
६.	तस्स, नस्स	तेसं, तेसानं, नेसं, नेसानं
७.	तस्मि, तम्हि, नस्मि, नम्हि	तेसु, नेसु

सा (तद्) स्त्रीलिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	सा,	ता, तायो
२.	तं, न	ना, तायो
३.	ताय, नाय	ताभि, ताहि, नाभि, नाहि
४.	तिस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तासं, तासानं
५.	ताय, नाय	ताभि, ताहि, नाभि, नाहि
६.	तिस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तासं, तासानं
७.	तिस्सं, तस्सं, तायं	तासु

नपुंसक लिंग

१.	तं, न	ते, तानि, ने
२.	तं, न	ते, तानि, ने

शेष रूप पुल्लिंगवत् ।

इदं पुल्लिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	अयं	इमे
२.	इमं	इमे
३.	अनेन, इमिना	एभि, एहि, इमेभि, इमेहि
४.	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
५.	अस्मा, इमस्मा, इमम्हा	एभि, एहि, इमेभि, इमेहि
६.	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
७.	अस्मि, इमस्मि, इमम्हि	एसु, इमेसु

स्त्रीलिंग

१.	अयं	इमा, इमायो
२.	इमं	इमा, इमायो
३.	इमाय	इमाभि, इमाहि
४.	अस्साय, अस्सा, इमिस्साय इमिस्सा, इमाय	इमासं, इमासानं
५.	इमाय	इमाभि, इमाहि
६.	चतुर्थी की भांति	
७.	अस्सं, इमिस्सं, इमायं	इमासु

नपुंसकलिंग

१.	इदं, इमं	इमे, इमानि
२.	इदं, इमं	इमे, इमानि

शेष रूप पुल्लिंगवत

अमु (पुंल्लिंग)

	ए० व०	ब० व०
१.	असु	अमू, अमुयो

२.	अमुं	अमू, अमुयो
३.	अमुना	अमूभि, अमूहि
४.	अमुनो, अमुस्स	अमूसं, अमूसानं
५.	अमुस्मा, अमुम्हा, अमुना	अमूभि, अमूहि
६.	अमुनो, अमुस्स	अमूसं, अमूसानं
७.	अमुस्मि, अमुम्हि	अमूसु

अमु (स्त्रीलिंग)

	ए० व०	ब० व०
१.	अमु, अमु	अमू, अमुयो
२.	अमु	अमू, अमुयो
३.	अमुया	अमूभि, अमूहि
४.	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसानं
५.	अमुया	अमूभि, अमूहि
६.	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसानं
७.	अमुस्स, अमूयं	अमूसु

नपुंसकलिंग

१.	अदुं	अमू, अमूनि
२.	अदुं	अमू, अमूनि

शेष रूप पुल्लिंगवत् होते हैं।

तुम्ह (युष्मद्) पुंल्लिंग

१.	त्वं	तुम्हे
२.	तं, तव, तुव, त्वं	तुम्हाक, तुम्हे,
३.	त्वया, तया	तुम्हेभि, तुम्हेहि,
४.	तव, तुम्हं, तुय्हं	तुम्हाकं, तुम्हं
५.	त्वया, तया	तुम्हेभि, तुम्हेहि
६.	तव, तुम्हं, तुय्हं,	तुम्हाकं, तुम्हं
७.	त्वयि, तयि	तुम्हेसु

अन्य लिंगों में भी समान ही।

अम्हा (अस्मद्)

१	अह	मय, अम्हे
२	म, मम	अम्हाक, अम्हे
३	मया	अम्हेभि, अम्हेहि
४	मम, मय्ह, अम्ह, मम	अम्हाक, अम्ह
५	मया	अम्हेभि, अम्हेहि
६	मम, मय्ह, अम्ह, मम	अम्हाक, अम्ह
७	मयि	अम्हेसु

सब लिगों में समान रूप।

कि—पुल्लिग

	ए० व०	अ० व०
१	को	के
२	क	के
३	केन	केभि, केहि
४	कस्स, किस्स	केस, केसान
५	कस्मा, कम्हा	केभि, केहि
६	कस्स, किस्स	केस, केसान
७	कस्मि, किस्मि कम्हि	केसु

स्त्रीलिंग

१	का	का, कायो
२	क	का, कायो
३	कस्सा, काय	काभि, काहि
४	कस्सा, काय	कास, कासान
५	कस्सा, काय	काभि, काहि
६	कस्सा, काय	कास, कासान
७	कस्स, कस्सा, काय, काय	कासु

नपुसक लिग

१.	कि	के, कानि
२	कि	के, कानि

शेष रूप पुल्लिंगवत् चलते हैं।

संख्यावाचक विशेषण—एक

१.	एको	एके
२.	एकं	एके
३.	एकेन	एकेभि, एकेहि
४.	एकस्स	एकेसं, एकेसानं
५.	एकस्मा, एकम्हा	एकेभि, एकेहि
६.	एकस्स	एकेसं
७.	एकस्मिं, एकम्हि	एकेसु

स्त्रीलिंग

	ए० व०	ब० व०
१.	एका	एका, एकायो
२.	एकं	एका, एकायो
३.	एकाय	एकाभि, एकाहि
४.	एकस्सा, एकाय, एकिस्सा	एकासं, एकासानं
५.	एकाय	एकाभि, एकाहि
६.	एकस्सा, एकाय, एकिस्सा	एकासं, एकासानं
७.	एकस्सं, एकायं	एकासु

नपुंसक लिंग

१.	एकं	एके, एकानि
२.	,,	,, ,,

शेष पुल्लिंगवत्।

	द्वि	ति (पुंल्लिंग)
१.	दुवे, द्वे	१. तयो
२.	दुवे, द्वे	२. तयो
३.	द्वीभि, द्वीहि	३. तीभि, तीहि
४.	द्विन्नं	४. तिन्नं, तिण्णन्नं
५.	द्वीभि, द्वीहि	५. तीभि, तीहि
६.	द्विन्नं, दुविन्नं	६. तिन्नं, तिण्णन्नं

७.	द्वीसु	७ तीसु

ति

	स्त्रीलिंग	नपुंसक लिंग
१.	तिस्सो	तीनि
२.	,,	,,
३.	तीहि, तीभि	तीहि, तीभि
४.	तिस्सन्न	तिण्ण, तिण्णन्न
५.	तीभि, तीहि	तीभि, तीहि
६.	तिस्सन	तिण्ण, तिण्णन्न
७.	तीसु	तीसु

चतु

	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
१.	चत्तारो, चतुरो	चतस्सो	चत्तारि
२.	चत्तारो, चतुरो	चतस्सो	चत्तारि
३.	चतूभि, चतूहि	चतूभि, चतूहि	चतूभि, चतूहि
४.	चतुन्न	चतस्सन्न	चतुन्न
५.	चतूभि, चतूहि	चतूभि, चतूहि	चतूभि, चतूहि
६.	चतुन्न	चतस्सन्न	चतुन्न
७.	चतूसु	चतूसु	चतूसु

पञ्च

१	पञ्च
२	पञ्च
३	पञ्चभि, पञ्चहि
४.	पञ्चन्न
५.	पञ्चभि, पञ्चहि
६.	पञ्चन्न
७	पञ्चसु

सभी अकारान्त सङ्ख्यावाचक शब्दों के रूप (छे से लेकर अठारह तक) पञ्च की तरह रूप रखते हैं।

सार्वनामिक शब्द

जो शब्द सर्वनामों का आश्रय लेकर बनते है उन्हें सार्वनामिक शब्द कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) अनिश्चयवाचक सर्वनाम, (२) सार्वनामिक विशेषण और (३) अव्यय शब्द।

(१) अनिश्चयवाचक सर्वनाम—ये शब्द प्रश्नवाचक सर्वनाम को, का तथा कि के पश्चात् 'चि' प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं, जैसे—कोचि, काचि, किञ्चि। इनके रूप को, का, कि, के समान ही चलते हैं, केवल रूपों के साथ 'चि' प्रत्यय जुड जाता है, जैसे केनचि, काचि, कानिचि आदि।

(२) सार्वनामिक विशेषण—ये शब्द सर्वनामों से बनाये जाते हैं और विशेषण का काम करते है, जैसे—कतर, कतम, मादिस, तादिस, अम्हादिस, ईदिस, ईरिस, एतादिस, एतारिस आदि।

(३) सार्वनामिक अव्यय—ये शब्द सर्वनाम शब्दो से बनते हैं और अव्ययवत् प्रयुक्त होते हैं। सर्वनाम शब्दों के साथ दा, दानि, रहि, तो, त्र, त्थ, ध, ह आदि प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं, जैसे—कदा, इदानी, तरहि, यतो, अत्र, एत्थ, इध, इह आदि।

तिङन्त शब्द (क्रियापद)

संस्कृत वैयाकरणों के नियम के अनुसार किसी धातु या शब्द प्रकृति का स्वतंत्र प्रयोग नहीं किया जा सकता। संज्ञाओं और सर्वनामों मे यह बात स्पष्टतः दिखायी पड़ती है कि विभक्तियों के जुडने पर ही उनका प्रयोग होता है। संस्कृत के पडित लोग तो अव्यय के प्रयोग के समय भी उसमे प्रत्यय के बढाने-घटाने का ध्यान रखते हैं।

संज्ञाओ और सर्वनामों में जो पर-प्रत्यय जुडते हैं वे क्रिया-प्रत्ययो से भिन्न होते हैं। क्रिया-प्रत्यय पुरुषवाचक प्रत्यय होते हैं। वे या तो किसी धातु मे लगते हैं या उस आधार मे लगते हैं जो धातु में रूपात्मक प्रत्ययों के जुडने से बनते है। रूपात्मक प्रत्यय ये हैं—*अ, य, ना, नु, अय, उ* आदि और क्रियाए उनके रूपो के अनुरूप अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे (१) भुवादि, (२) अदादि, (३) ह्वादि, (४) दिवादि, (५) स्वादि, (६) तुदादि, (७) रुधादि, (८) तनादि, (९) क्र्यादि, (१०) चुरादि। पालि में क्रियाओं को ७ भेदों में रखा जाता है—(१)

भूवादि, (२) रुधादि, (३) दिवादि, (४) स्वादि (५) कियादि, (६) तनादि, (७) चुरादि।

कच्चायन ने एक प्रकार की क्रिया और बतलायी है और वह है 'गहादि,' संस्कृत-वैयाकरणो के अनुसार यह 'कियादि' भेद के अन्तर्गत ही आ जाती है।

संस्कृत की भाँति पालि मे भी क्रियाओ के दो पद होते हैं—परस्मैपद और आत्मनेपद। यदि क्रिया का फल कर्ता को हो तो आत्मनेपद, और यदि क्रिया का फल कर्तेतर किसी को हो तो परस्मैपद होना चाहिये। इस नियम मे शिथिलता तो संस्कृत मे ही आ गयी थी और अन्त मे यह पद विभाग प्रयाश्रित हो गया था। किन्तु पालि मे तो इसमे इतनी शिथिलता मिलती है कि ये भेद नाममात्र को रह गया और आत्मनेपद का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है। पालि मे प्राय परस्मैपद ही पाया जाता है, केवल कही-कही आत्मनेपद दृष्टिगोचर होता है। नियम-भग की सीमा यहाँ तक आ जाती है कि कर्मवाच्य, भाववाच्य, कर्तृवाच्य आदि प्रयोगो मे जहाँ संस्कृत मे आत्मनेपद होना आवश्यक है वहाँ भी पालि मे प्राय विकल्प पाया जाता है।

क्रियाओ के तीन पुरुष अर्थात् उत्तम, मज्झिम और पठम होते हैं और उनके रूप केवल दो वचनो मे चलते हैं—एकवचन और बहुवचन।

यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि संस्कृत मे धातुगण दस रूपो मे प्रयुक्त होते हैं—लट्, लोट्, लड् और विधिलिङ्, लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ्। पालि मे आशीर्लिङ् और लुट् का प्रयोग नही होता। इसमे पालि मे केवल आठ ही लकार रह जाते है। लिट् लकार का प्रयोग भी पालि मे बहुत ही कम होता है। लङ् और लुङ् दोनो भूतकाल द्योतित करते हैं। इनमे से पालि मे लुङ् का प्रयोग ही अधिक होता है।

इस प्रकार पालि के वैयाकरण क्रिया के रूपो को आठ 'विभत्तियो' मे देखते हैं—(१) वत्तमाना, (२) पञ्चमी, (३) सत्तमी, (४) परोक्खा, (५) हीयत्तनी, (६) अज्जतनी, (७) भविस्सन्ती तथा (८) कालातिपत्ति।

वत्तमाना का प्रयोग वर्तमानकाल के निमित्त होता है। पचमी का प्रयोग आज्ञा या आशीर्वाद के लिए होता है। सत्तमी को अनुमति या निर्णय के सूचित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। परोक्खा का प्रयोग उस काल की सूचना देता है जिसको वर्णनकर्ता ने नहीं देखा है। इसको पूर्णभूत भी कह सकते हैं। हीयत्तनी

विभत्ति उस काल की सूचना देती हैं जो वस्त मे पूर्व हो चुका है चाहे वर्णनवर्ता ने उसे देखा हो या न देखा हो। अज्जतनी का प्रयोग भूतकाल की घटनाओं को सूचित करने के लिए होता है—किन्तु केवल उन घटनाओं की सूचना के लिए जो आज से पहले घटी है। भविस्सन्ती विभत्ति भविष्यन् घटना या क्रिया की सूचना के लिए प्रयुक्त होती है। कालातिपत्ति का प्रयोग उस क्रिया की सूचना देता है जो भूतकाल मे प्रारम होकर अभी समाप्त नहीं हुई।

१. वतमाना (Present Tense) लट् लकार

परस्मपद

		ए० व०	ब० व०
(प्रथम पु०)	३.	ति	अन्ति
(मध्यम पु०)	२.	सि	थ
(उत्तम पु०)	१.	मि	म

अत्तनोपद

	ए० व०	ब० व०
३.	ते	अन्ते
२.	से	व्हे
१.	ए	म्हे

२. पंचमी (Imperative) लोट् लकार

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	तु	अन्तु
२.	हि	थ
१.	मि	म

अत्तनोपद

	ए० व०	ब० व०
३.	तं	अन्तं
२.	स्सु	व्हो
१.	ए	आमसे

३. सत्तमी (Optative) विधि लिङ्

परस्सपद

ए० व०	ब० व०
एय्य	एय्युम

२.	एय्यासि	एय्याथ
१.	एय्यामि	एय्याम

अत्तनोपद

	ए० व०	ब० व०
३.	एथ	एरं
२.	एथो	एय्यावहो
१.	एय्यं	एय्याम्हे

४. परोक्खा (Past Tense) लिट्

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	अ	उ
२.	ए	त्थ
१.	अ	म्ह

अत्तनोपद

३.	त्थ	रे
२.	त्थो	व्हो
१.	इ	म्हे

५. ह्यीयतनी (Imperfect) लङ्

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	आ, अ	ऊ, उं
२.	आ, ओ	त्थ
१.	अ, अं	म्हा

अत्तनोपद

३.	त्थ, थ	त्थु
२.	से	व्ह
१.	इ	म्हसे

६. अज्जतनी (Aorist) लुङ्

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	ई, इ	उं, इंसु
२.	इ	इत्थ
१.	इं	इम्हा, इम्ह

अत्तनोपद

३.	आ	ऊ
२.	से	व्हं
१.	अ	म्हे

७. भविस्सन्ती (Future) लृट् लकार

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	स्सति	स्संति
२.	स्ससि	स्सथ
१.	स्सामि	स्साम

अत्तनोपद

	ए० व०	ब० व०
३.	स्सते	स्सते
२.	स्ससे	स्सव्हे
१.	स्सं	स्साम्हे

८. कालातिपत्ति (Conditional) लृङ्

परस्सपद

	ए० व०	ब० व०
३.	स्सा	स्संसु
२.	स्से	स्सथ
१.	स्सं	स्सम्हा

अत्तनोपद

३.	स्सथ	स्सिंसु

२.	स्से	स्सव्हे
१.	स्स	स्साम्हसे

कुछ धातु रूप

भू धातु

लट् लकार (Present Tense)—परस्मैपद

	ए० व०	ब० व०
३.	भवति	भवन्ति
२.	भवसि	भवथ
१.	भवामि	भवाम

आत्मनेपद

३.	भवते	भवन्ते
२.	भवसे	भवव्हे
१.	भवे	भवाम्हे

लोट् लकार (Imperative) परस्मैपद

३.	भवतु	भवन्तु
२.	भव, भवाहि	भवथ
१.	भवामि	भवाम

आत्मनेपद

३.	भवत	भवन्त
२.	भवस्सु	भवव्हो
१.	भवे	भवामसे

विधिलिंग (Optative)—परस्मैपद

३.	भवेय्य, भवे	भवेय्यु
२.	भवेय्यासि, भवे	भवेय्याथ
१.	भवेय्यामि, भवे	भवेय्याम

आत्मनेपद

३.	भवेथ	भवेर
२.	भवेथो	भवेय्यव्हो

१.	भवेय्यं	भवेय्याम्हे

लिट् (परोक्षभूत)—परस्मैपद

३.	बभूव	बभूवु
२.	बभूवे	बभूवित्थ
१.	बभूव	बभूविम्ह

आत्मनेपद

३.	बभूवित्थ	बभूविरे
२.	बभूवित्थो	बभूविव्हो
१.	बभूवि	बभूविम्हे

ह्यियत्तनी लङ् (Past Imperfect) परस्मैपद

३.	अभवा	अभवू
२.	अभवो	अभवत्थ
१.	अभव	अभवम्हा

आत्मनेपद

३.	अभवत्थ	अभवत्थुं
२.	अभवसे	अभवव्हं
१.	अभविं	अभवाम्हसे

लुङ् लकार (अद्यतनीभूत) परस्मैपद

३.	अभवि, अभवी	अभवुं, अभविंसु
२.	अभवो	अभवित्थ
१.	अभविं	अभविम्हा

आत्मनेपद

३.	अभवा	अभवू
२.	अभवसे	अभविव्हं
१.	अभवं	अभविम्हे

नोट—लुङ् (परस्मैपद) में उक्त रूपों के स्थान पर 'हु' धातु से बने हुए रूपों का ही अधिक प्रयोग होता है। 'हु' के रूप 'लुङ्' में इस प्रकार चलते हैं—

३.	अहोसि	अहेसुं

२.	अहोसि	अहोसित्थ
१.	अहोसिं	अहोसिम्हा

लृट् लकार (Future) परस्मैपद

	ए० व०	ब० व०
३.	भविस्सति	भविस्सन्ति
२.	भविस्ससि	भविस्सथ
१.	भविस्सामि	भविस्साम

आत्मनेपद

३.	भविस्सते	भविस्सन्ते
२.	भविस्ससे	भविस्सव्हे
१.	भविस्सं	भविस्साम्हे

कालातिपत्ति लृङ् लकार (Conditional) परस्मैपद

३.	अभविस्सा, अभविस्स	अभविस्संसु
२.	अभविस्से	अभविस्सथ
१.	अभविस्सं	अभविस्सम्हा

आत्मनेपद

३.	अभविस्सथ	अभविस्सिंसु
२.	अभविस्से	अभविस्सव्हे
१.	अभविस्सं	अभविस्साम्हसे

नोटः—यह ध्यान रखना चाहिये कि 'भू' धातु पालि में प्रायः 'हु' में बदल जाती है और तब उसके रूप वर्तमान काल—लट् लकार—में इस प्रकार बनते हैं—

परस्मैपद

	ए० व०	ब० व०
३.	होति	होन्ति
२.	होसि	होथ
१.	होमि	होम

लुङ् लकार के मध्य पुरुष एकवचन में 'अहोसि' रूप होता है; थेरगाथा में 'अहु' रूप भी दीख पड़ता है। लट् लकार के आत्मनेपद के उत्तम पुरुष में जातक में 'भवामाम्हे' के स्थान पर 'अहुवम्हसे' भी मिलता है। भविष्यत् में ये रूप मिलते

हैं होहिति, हेहिति, हेस्सति तथा भोहिमि। ये रूप थेरगाथा में बहुधा दिखाई पड़ते हैं।

ठा (खड़ा होना, स्थित होना) धातु—परस्मैपद

लट् लकार (वर्तमान)

	ए० व०	ब० व०
३.	तिट्ठति	तिट्ठन्ति
२.	तिट्ठसि	तिट्ठथ
१.	तिट्ठामि	तिट्ठाम

लोट् लकार (आज्ञा)

३.	तिट्ठतु	तिट्ठन्तु
२.	तिट्ठ, तिट्ठाहि	तिट्ठथ
१.	तिट्ठामि	तिट्ठाम

लिङ् लकार (विधि)

३.	तिट्ठेय्य	तिट्ठेय्युं
२.	तिट्ठेय्यासि	तिट्ठेय्याथ
१.	तिट्ठेय्यामि	तिट्ठेय्याम

लृट् लकार (भविष्यत्)

३.	तिट्ठिस्सति	तिट्ठिस्सन्ति
२.	तिट्ठिस्ससि	तिट्ठिस्सथ
१.	तिट्ठिस्सामि	तिट्ठिस्साम

लृट् का दूसरा रूप

३.	ठस्सति	ठस्सन्ति
२.	ठस्ससि	ठस्सथ
१.	ठस्सामि	ठस्साम

अद्यतनी लुङ् लकार

३.	अट्ठासि	अट्ठंसु
२.	अट्ठासि	अट्ठासित्थ
१.	अट्ठासिं	अट्ठासिम्ह, अट्ठासिम्हा

दा धातु—परस्मैपद

लट् लकार

	ए० व०	ब० व०
३.	ददाति	ददन्ति
२.	ददासि	ददाथ
१.	ददामि	ददाम

लोट लकार

३.	ददातु	ददन्तु
२.	देहि, ददाहि	ददाथ
१.	ददामि	ददाम

लिङ् लकार

३.	ददेय्य	ददेय्यु
२.	ददेय्यासि	ददेय्याथ
१.	ददेय्यामि	ददेय्याम

लृट (भविष्यत्) लकार

३	दस्सति	दस्सन्ति
२.	ददिस्ससि	ददिस्सथ
१.	दस्सामि	दस्साम

दूसरा रूप

३.	ददिस्सति	ददिस्सन्ति
२.	ददिस्ससि	ददिस्सथ
१	ददिस्सामि	ददिस्साम

अद्यतनी लुङ् लकार

३	अदासि	अदासु, अदसु
२	अदासि	अदासित्थ
१	अदासिं	अदासिम्ह, अदासिम्हा

यह ध्यान रखने की बात है कि कविता में वर्तमान और भविष्यत काल की क्रियाओं के प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप 'अन्ते' और 'स्सन्ते', 'अरे' और 'स्सरे' में बदल जाते हैं, जैसे 'निसेवन्ते' के स्थान पर 'निसेवरे' (थेर गाथा व० ६३४);

'विज्जंते' के स्थान पर 'विज्जरे' (धनिय सुत्त); 'लज्जंते' के स्थान पर 'लज्जरे' (थरे गा० ६४३), 'भविस्संते' के स्थान पर 'भविस्सरे' (थरे गाथा, ५०६,६६४), 'वसिस्सते' के स्थान पर 'वसिस्सरे' (थरे गाथा ६६२)।

वर्तमान काल में 'भुवादि' गण की क्रियाओं के रूप चार प्रकार से बनते हैं:—

(१) जिन धातुओं के अन्त में 'ई' और 'ऊ' होता है उनको 'गुण' होकर 'अ' युक्त हो जाते है, जैसे 'भू' का 'भव' और 'नी' का 'नय' हो जाता है।

(२) 'या' 'वा' आदि कुछ धातुएँ बिना किसी परिवर्तन के ही पुरुषवाचक प्रत्यय स्वीकार कर लेती हैं, जैसे 'याति', 'वाति' आदि।

(३) 'तुद्', 'पच्' आदि व्यञ्जनान्त धातुओं मे बिना किसी 'गुण' के 'अ' जुड़ जाता है, जैसे तुदति, पचति आदि।

(४) 'ठा', 'दा' आदि धातुओं के आधार पर आवृत्तिपूर्वक बनते है, जैसे 'तिट्ठति', 'ददाति'।

(२) रुधादि गण की क्रियाएं

इस गण की धातुओं मे अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व अनुनासिक के योग से अन्त में 'अ' जुड़ जाता है, जैसे 'रुध्' से 'रुन्ध', 'छिद्' से 'छिन्द', 'भुज' से 'भुञ्ज'।

(३) दिवादि गण क्रियाएं

इस गण की क्रियाओं मे धातु के साथ 'य' जुड़ जाता है और अन्त्य व्यञ्जन के साथ 'य' समीकृत हो जाता है, जैसे दिव्=दिब्बति, युध्=युज्झति।

(४) स्वादि गण की क्रियाएं

इन क्रियाओं के अन्त में 'ना', 'नु' तथा 'उना' जुड़ जाता है, जैसे, सु= सुनाति, सुनोति; प+आप=पापुनाति, पप्पोति।

नोट—गुण के द्वारा 'नु' का नो हो जाता है।

(५) क्रियादि गण की क्रियाएं

इन क्रियाओं की धातुओं मे जो स्वरान्त होती है 'ना' जुड़ जाता है, जैसे किणाति, जिनाति।

(६) तनादि गण की क्रियाएं

इस गण की क्रियाओं के धातुओं के अन्त मे 'उ' जुड़ जाता है और फिर उस 'उ' को गुण होकर 'ओ' हो जाता है जैसे करोति, तनोति (to spin)।

(७) चुरादि गण की क्रियाएं

इन क्रियाओं की धातुओं में 'अय' जुड़कर फिर वह बहुधा 'ए' में सिकुड़ जाता है जैसे चुर=चोरे (चोरेति), कथ=कथे (कथेति), कथय (कथयति)

क्रियारूपों के सम्बन्ध में सामान्य नियम

१ भ्वादिगणीय धातु के उत्तर स्थित अकार (विकरण अकार) का विकल्प से लोप हो जाता है। इस नियम के अनुसार भवेति, भवेन्ति आदि रूप भी हो सकते हैं।

२ पालि में मि, म और म्हे के पूर्व स्थित अकार को दीर्घ हो जाता है जैसे भवामि, भवाम आदि।

३ जुहोत्यादि गण की कुछ आकारान्त धातुओं में द्वित्व कार्य का प्रभाव देखा जाता है, अन्य सब आकारान्त धातुएँ 'ठा' धातु के समान चलती हैं। 'गा' और 'झा' धातुएँ क्रमश 'गै' और 'ध्यै' धातुओं से बनी हैं, इसलिए इनके रूप गाति और 'झाति' न होकर संस्कृत के 'ऐ' के प्रभाव से 'आय' युक्त गायति, गायन्ति, झायति, झायन्ति इत्यादि होते हैं। पालि और संस्कृत का कितना सम्बन्ध है, इन उदाहरणों से इस संबंध में बहुत कुछ बोध प्राप्त होता है।

४ कभी-कभी सम्, उत् प्रति, उ, नि उपसर्ग पूर्व रहने से 'ट' के स्थान मे 'ट्ठ' हो जाता है—आगे जाकर हिन्दी में यही बिना उपसर्ग के भी 'ठहरना' बन जाता है। जैसे सठति, सठाति। उट्ठहति, उट्ठाति।

५ कभी-कभी अधि और उत् उपसर्ग के साथ 'ठा' धातु के आकार के स्थान मे 'एकार' हो जाता है, जैसे अधिट्ठेन्ति, उट्ठेन्ति। 'पा' धातु के स्थान मे भी विकल्प से 'पिव' आदेश हो जाता है तथा 'पिव' का विकार भी विकल्प से वकार हो जाता है। जैसे पिवति, पिवति, पाति, पिवन्ति, पियन्ति, पन्ति।

(६) दिस (दृश्) धातु के स्थान में विकल्प से पस्स, दिस्स और दक्ख आदेश होते हैं। जैसे, पस्सति, पस्सन्ति, दिस्सति, दिस्सति, दक्खति, दक्खति आदि।

(७) गम धातु के स्थान मे विकल्प से गच्छ और घम्म हो जाते हैं जैसे, गच्छति, गच्छन्ति, घम्मति, घम्मन्ति, गमेति, गमेन्ति आदि।

(८) वद धातु के स्थान में विकल्प से वज्ज हो जाता है यथा, वज्जति, वज्जन्ति, वज्जेति, वज्जेन्ति, वदति, वदेति, वदन्ति आदि।

(९) यम धातु के स्थान में विकल्प से यच्छ हो जाता है, यथा यच्छति,

यच्छन्ति; यमति, यमन्ति।

(१०) सद् धातु के स्थान में 'सीद' हो जाता है यथा सीदति, सीदन्ति।

(११) जि धातु के रूप संस्कृत के समान जयति, जयन्ति आदि भी होते हैं और विकल्प से जेति, जेन्ति आदि रूप भी होते हैं। जिस प्रकार संस्कृत में एक ही धातु कभी-कभी भिन्न-भिन्ना गणों में पायी जाती है उसी प्रकार पालि में भी कोई कोई धातु भिन्न-भिन्न गणो में मिलती है। जि धातु इसका एक उदाहरण है। इसके रूप क्र्यादि गण के विकरण सहित भी मिलते हैं। यथा—

	ए० व०	ब० व०
प्र०	जिनाति	जिनन्ति
म०	जिनासि	जिनाथ
उ०	जिनामि	जिनाम

(१२) 'नी' धातु के रूप भी दो प्रकार से बनते हैं:—नयति, नयन्ति तथा नेति, नेन्ति आदि।

(१३) मर (स० सृ) के रूप 'सरति', 'सरन्ति, आदि होते हैं। अन्य गणों की संस्कृत की ऋकारान्त धातुओं के रूप भी प्रायः इसी प्रकार होते हैं।

नोट—यद्यपि ऊपर कहे गये 'गच्छ' आदि आदेश संस्कृत से केवल लट्, लोट विधिलिंग और लङ् में ही होते हैं, परन्तु पालि में सभी लकारों में ये आदेश पाये जाते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी ये सब आदेश कृत प्रत्ययों तक में पाये जाते हैं। विकरण के संबंध मे भी यही नियम है। पालि के अकार यकार आदि विकरण—लट् आदि सार्वधातुक लकारो में ही आवद्ध नही रहते वरन् सभी लकारो मे होते हैं।

अदादि गण के धातुओं के संबंध में कुछ विशेष नियम

(१) यह कहा ही जा चुका है कि पालि में केवल सात गण होते हैं। यह अदादि, जुहोत्यादि तथा तुदादी गणों की समस्त धातुओं का समावेश भ्वादिगण में कर दिया गया है किन्तु यथार्थ मे संस्कृत मे अदादी प्रभृति गणों में गणप्रयुक्त जो विकार होते है, उनका आभास पालि मे भी होता है। अतएव वे भ्वादीगण से पृथक् प्रतीत होते हैं।

'इ' धातु—(गमनार्थक)

	ए० व०	ब० व०
प्र०	एति	एन्ति, यन्ति
म०	एसि	एथ
उ०	एमि	एम

(२) 'या' धातु के रूप याति, यन्ति आदि, 'वा' धातु के रूप वाति, वन्ति, भा धातु के रूप भाति, भन्ति, तथा पा धातु के रूप पाति, पन्ति आदि होते हैं।

'ब्रू धातु

	ए० व०	ब० व०
प्र०	ब्रूते	ब्रुवन्ते
म०	ब्रूसे	ब्रून्हे
उ०	ब्रुवे	ब्रूम्हे

(३) सी (शी) धातु के रूप विकल्प से भ्वादि और अदादी, दोनों गणो के अनुसार मिलते हैं यथा, सयति, सयन्ति, सेति, सेन्ति, सेते, सेन्ते आदि।

अस धातु

	ए० व०	ब० व०
प्र०	अत्थि	सन्ति
म०	असि, अहि	अत्थ
उ०	अस्मि, अम्हि	अस्म, अम्ह

'आस' धातु

	ए० व०	ब० व०
प्र०	अच्छति	अच्छन्ति
म०	अच्छसि	अच्छथ
उ०	अच्छामि	अच्छाम

(४) उपपूर्वक आस धातु के रूप उपासति, उपासन्ति आदि होते हैं।

'हन' धातु

	ए० व०	ब० व०
प्र०	हनति, हन्ति	हनन्ति
म०	हनसि (वही यहाँ [illegible])	[illegible]

उ० हनामि हनाम

(५) हन धातु के स्थान में विकल्प से 'वध' आदेश हो जाता है। उस दशा में उसके रूप वधति, वधन्ति इत्यादि होतेहैं।

(६) वच धातु के वचति, वचन्ति आदि रूप होते हैं। कभी-कभी प्रथम पुरुष के एक वचन मे 'वत्ति' रूप भी मिलता है।

(७) दुह धातु रूप दुहति, दुहन्ति आदि होते हैं और विकल्प से दोहति, दोहन्ति आदि रूप भी हो जाते है।

(८) लिह धातु के रूप लिहति, लिहन्ति आदि तथा विकल्प से लेहति, लेहन्ति आदि होते हैं।

(९) रुद धातु के रुदति, रुदन्ति आदि तथा विकल्प से रोदति रोदन्ति आदि भी होते हैं।

(१०) विद धातु के विदति, विदन्ति आदि रूप भी होते हैं।

तुदादि गण

(११) पुच्छ धातु के पुच्छति, पुच्छन्ति इत्यादि। इस (इष्) धातु के स्थान में विकल्प से इच्छ आदेश होता है, यथा—इच्छति, इच्छन्ति आदि। विकल्प पक्ष मे—एसति, एसन्ति आदि रूप होते हैं।

(१२) गिर, गिल (गृ)—गिरति, गिरन्ति ; गिलति, गिलन्ति।

(१३) मर (मृड) धातु के स्थान में विकल्प से मीय्य और मीय आदेश होते है। यथा—मीय्यति, मीय्यन्ति ; मीयति, मीयन्ति ; मरति, मरन्ति आदि।

(१४) सिच धातु—सिञ्चति, सिञ्चन्ति आदि।

इसी प्रकार लिप धातु के—लिम्पति, लिम्पन्ति आदि रूप होते हैं।

नोट—हिन्दी मे 'लिम्पति' का मकार लुप्त हो जाने से केवल लिपइ या लीपे रह गया।

(१५) मुच धातु—मुञ्चति, मुञ्चन्ति आदि।

(१६) विद धातु—विन्दति, विन्दन्ति आदि।

(१७) फुस (स्पृश)—फुसति, फुसन्ति आदि।

दिवादि गण

(१८) संस्कृत के समान पालि मे भी दिवादिगण मे धातु के उत्तर 'य' विकरण लगता है, परन्तु यह 'य—कार' जन, दा इत्यादि थोड़ी-सी धातुओं मे ही प्रत्यक्ष

दिखाई देता है। अधिकाश धातुओ मे सधि होकर उसे पूर्व रूप हो जाता है जैसे दिव—दिव+य+ति=दिव्वति।

(क) दिव—दिव्वति, दिब्बन्ति।

(ख) युध—युज्झति, युज्झन्ति।

(ग) बुध—बुज्झति, बुज्झन्ति।

नोट—यही हिन्दी मे 'बूझे हो जाता है।

(घ) कुध—कुज्झति, कुज्झन्ति।

(ङ) विध (व्यध)—विज्झति, विज्झन्ति।

(च) पद—पज्जति, पज्जन्ति।

(छ) नह—नय्हति नय्हन्ति।

नोट—'ह' के साथ य—कार के सयोग से दोनो म स्थान-परिवर्तन हो जाता है।

(ज) तुस (तुष्)—तुस्सति, तुस्सन्ति।

(झ) मन—मञ्ञति, मञ्ञन्ति।

(ञ) सम (शम्)—सम्मति, सम्मन्ति।

(ट) जन धातु के स्थान मे सस्कृत के समान ही 'जा' आदेश हो जाता है। अतएव उसके रूप—जायते, जायन्ते आदि होते हैं।

(ठ) दा धातु—दीयति, दीयन्ति।

(ड) जर (जृ)—के रूप मे विशेषता है। इसके रूप जीय्यति, जीय्यन्ति अथवा जिय्यति, जिय्यन्ति होते है तथा विकल्प से जीरति, जीरन्ति और जरति, जरन्ति आदि होते हैं।

रुधादिगण

(१६) सस्कृत मे जहाँ 'श्नम्' विकरण होने से 'छिनति' इत्यादि रूप होते हैं, पालि मे 'छिन्दति', 'रुन्धति' आदि रूप होते है। यहाँ भ्वादिगण के समान अ—कार धातु के अन्त मे विकरण-स्वरूप आता है तथा धातु के पूर्व स्वर के अनन्तर अनुस्वार होता है। वह अनुस्वार अपने परवर्ती व्यजन के अनुसार सवर्ण हो जाता है, जैसे—भिन्दति, रुन्धति, छिन्दति, भुञ्जति इत्यादि।

नोट—रुधादिगण के विकरण मे एक और विशेषता है। जहाँ अ-विकरण कहा गया है, वहाँ इ, ई, ए तथा ओ भी विकरण-स्वरूप प्रयुक्त हुए हैं। अतएव

इस गण की धातुओं के पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप उपलब्ध होते हैं। यथा—

रुध (प्रथम पुरुष)

ए० व०—रुन्धति, रुन्धिति, रुन्धीति, रुन्धेति, रुन्धोति।

ब० व०—रुन्धन्ति, रुन्धिन्ति, रुन्धीन्ति, रुन्धेन्ति, रुन्धोन्ति।

भिद (प्रथम पुरुष)

ए० व०—भिन्दति, भिन्दिति, भिन्दीति, भिन्देति, भिन्दोति।

ब० व०—भिन्दन्ति, भिन्दिन्ति, भिन्दीन्ति, भिन्देन्ति, भिन्दोन्ति।

छिद (प्रथम पुरुष)

ए० व०—छिन्दति, छिन्दिति, छिन्दीति, छिन्देति, छिन्दोति।

ब० व०—छिन्दन्ति, छिन्दिन्ति, छिन्दीन्ति, छिन्देन्ति, छिन्दोन्ति।

भुज (प्र० पु०)

ए० व०—भुञ्जति, भुञ्जिति, भुञ्जीति, भुञ्जेति, भुञ्जोति।

ब० व०—भुञ्जन्ति, भुञ्जिन्ति, भुञ्जीन्ति, भुञ्जेन्ति, भुञ्जोन्ति।

युज (प्र० पु०)

ए० व०—युञ्जति, युञ्जिति, युञ्जीति, युञ्जेति, युञ्जोति।

ब० व०—युञ्जन्ति, युञ्जिन्ति, युञ्जीन्ति, युञ्जेन्ति, युञ्जोन्ति।

स्वादिगण

(२०) स्वादिगण की धातुओं के अनन्तर साधारणतः 'णु' विकरण होता है, पर किसी-किसी धातु से 'णा' तथा 'उणा' प्रत्यय भी होते हैं। गुण होने से 'णु' के स्थान में 'णो' हो जाता है, जैसे—सुणाति, सुणन्ति; अथवा सुणोति, सुणोन्ति।

(क) 'हि' धातु प्राय. प (प्र) पूर्वक होने पर ये रूप धारण करती है—पहिणोति, पहिणाति, पहिणन्ति इत्यादि।

(ख) वु (वृ) धातु—वुणोति, वुणाति, वुणन्ति आदि।

कभी-कभी वणोति प्रयोग भी पाया जाता है।

(ग) 'मि' धातु—मिनोति, मिनाति, मिनान्ति आदि।

(घ) प-पूर्वक अप (प्र+आप्)

इसके रूप भी पापुणाति, पापुणन्ति तथा पापुणोति, पप्पोति इत्यादि होते हैं।

(ङ) सक् (शक्) धातु—सक्कुणाति, सक्कुणन्ति इत्यादि। विकल्प से सक्कोति, सक्कोन्ति आदि रूप भी होते है।

(२१) क्र्यादिगण
(क)—'क्री' धातु

	ए० व०	व० व०
प्र०	किणाति	किणन्ति
म०	किणासि	किणाथ
उ०	किणामि	किणाम

(ख) धू धातु—धुनाति, धुनन्ति आदि।

(ग) लू धातु—लुनाति, लुनन्ति आदि।

(घ) अस (अश् भक्षणे) धातु—अस्नाति, अस्नन्ति आदि।

(ङ) जा—ज्ञा धातु के स्थान मे 'जा' आदेश हो जाता है, यथा—जानाति, जानन्ति।

(च) गह—गण्हाति, गण्हन्ति, गण्हति, गण्हन्ति इत्यादि।
तथा—घेप्पति, घेप्पन्ति इत्यादि रूप भी होते है।

(छ) मा—'मा' धातु के आकार के स्थान मे इ-कार होता है। यथा—मिनाति, मिनन्ति इत्यादि।

तनादि गण

(२२) (क) तनादिगण की धातुओ मे 'उ' प्रत्यय (विकरण) होता है। 'उ' के स्थान मे गुण होने से 'ओ' होता है, जैसे—तनोति, तनोन्ति आदि।

(ख) कर (कृ) धातु—करोति, करोन्ति, कुब्बन्ति आदि।

नोट—'कर' धातु के उत्तर विकल्प से 'यिर' प्रत्यय होता है और उसके परे 'कर' के इकार का लोप हो जाता है, यथा—कयिरति, कयिरन्ति, कयिरसि, कयिरथ इत्यादि।

जुहोत्यादि गण

(२३) (क) 'हु' धातु—जुहोति, जुहुति—जुहोन्ति, जुहुन्ति आदि।

(ख) 'हा' धातु—जहाति, जहन्ति, जहासि, जहाथ, जहामि, जहाम।

(ग) 'दा' धातु—ददाति, दज्जति, देति } आदि।
ददन्ति, दज्जन्ति, देन्ति }

(घ) 'धा' धातु—दधाति, दधन्ति आदि। विकल्प पक्ष मे धेति, धेन्ति इत्यादि रूप भी होते हैं।

नोट—उपसर्ग सहित 'धा'—धातु के द्वित्व होने पर द्वितीय 'ध' के स्थान में कभी-कभी 'ह' हो जाता है, यथा—पिदहाति, पिदहन्ति आदि। सद्दहति (श्रद्धाति) सद्दहन्ति।

चुरादि गण

(२४) चुरादिगण की धातुओं में 'अय' प्रत्यय होता है और 'अय' के स्थान पर विकल्प से 'ए' हो जाता है।

(क) चुर धातु—चोरयति, चोरयन्ति; चोरेति, चोरेन्ति आदि।

(ख) चिन्त धातु—चिन्तयति, चिन्तयन्ति; चिन्तेति, चिन्तेन्ति आदि।

(ग) गण धातु—गणयति, गणयन्ति; गणेति, गणेन्ति आदि।

(घ) मत धातु—मन्तयति, मन्तेति आदि।

(ङ) विद धातु—वेदयति, वेदेति आदि।

नोट—विद धातु के वेदियति, वेदियन्ति आदि रूप भी होते हैं।

(च) घट धातु—घाटयति, घाटेति, घटयति, घटेति आदि रूप भी बनते हैं।

णिजन्त

संस्कृत मे प्रेरणार्थक धातुओं से 'णिच्' प्रत्यत होता है। पालि में भी 'अय' और 'आपय' प्रत्यय होते हैं। इन प्रत्ययों के बाद धातु में यथासम्भव गुण और वृद्धि होते है। संस्कृत के 'णिच्' के स्थान पर भी 'अय' होता है, उसीके अनुसार पालि में 'अय' होता है। संस्कृत मे कुछ णिजन्त धातुओं को (ऋ, ह्री, आकारान्त आदि) पुक् आगम होता है और तदनुसार अर्पयति, ह्रेपयति, दापयति आदि रूप होते है। पालि मे उसी के अनुकरण मे प्राय: सर्वत्र ही वैकल्पिक 'आपय' प्रत्यय होता है। यथा—(क) कारयति, कारयन्ति, (ख) कारापयति, कारापयन्ति आदि।

नोट—जैसा कि पहले ही कहा गया है, पदान्तर्गत अय के स्थान पर कभी-कभी 'ए' हो जाता है, तदनुसार 'णिजन्त' मे 'अय' के स्थान मे 'ए' और 'आपय' के स्थान पर 'आपे' हो जाता है। फलत: दो प्रकार के रूप और होते हैं—यथा, (ग) कारेति, कारेन्ति, (घ) कारापेति, कारापेन्ति आदि। अन्य लकार भी इसी प्रकार होते है।

(१) पच धातु—पाचयति, पाचेति, पाचापयति, पाचापेति।

(२) गुह—गूहयति, गूहेति।

(३) दुस—दूसयति, दूसेति ।
(४) गम—गमयति, गामयति, गामेति, गच्छापयति, गच्छापेति ।
(५) सम—समयति, समेति ।
(६) जन—जनयति, जनेति ।
(७) नियम—नियामयति, नियामेति ।
(८) घट—घटयति, घटेति, घटापयति, घटापेति ।
(९) बुध—बोधयति, बोधेति, बुज्झापयति, बुज्झापेति ।
(१०) गह (ग्रह)—ग्राहयति, ग्राहेति, गाहापयति, गाहापेति, गण्हापयति, गण्हापेति ।
(११) हा—जहापयति, जहापेति, हापयति, हापेति ।
(१२) दा—दापयति, दापेति ।
(१३) अपि + धा—पिधापयति, पिधापेति, पिदहापयति, पिदहापेति ।
(१४) हु—जुहापयति, जुहापेति, जुहावेति ।
(१५) सु (श्रु) सावयति, सावेति ।
(१६) जि—जयापयति, जयापेति ।
(१७) चुर—चोरापयति, चोरापेति ।
(१८) चिन्त—चिन्तापयति, चिन्तापेति ।

सन्नन्त

किसी क्रिया की इच्छा होने पर धातु के बाद इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय होता है। जुहोत्यादिगण के समान सन् के परे द्वित्वादि कार्य होते है । यहाँ यह न भुला देना चाहिए कि जब कर्ता क्रिया की इच्छा अपने लिए करता है। तभी 'सन्' प्रत्यय होता है, अन्य के लिए क्रिया की इच्छा होने पर 'सन्' प्रत्यय नही होता, जैसे—गोविन्दो पिपासति अर्थात् गोविन्द पीने की इच्छा (स्वय) करता है। 'सन्' के परे द्वित्व होने पर पूर्वनिर्दिष्ट ह्रस्व, दीर्घ, सन्धि-कार्य आदि यथासम्भव होते है। पालि मे 'सन्नन्त' के रूप सस्कृत का अनुकरण करते । यथार्थ मे पालि मे स्वतत्र रूप मे 'सन्नन्त' की उत्पत्ति हुई प्रतीत नही होती, प्रत्युत् सस्कृत 'सन्नन्त' रूप मे ही आवश्यक परिवर्तन के अनन्तर पालि सन्नन्त तैयार होता है । यह बात नही है कि पालि मे 'सन्नन्त' का प्रयोग अत्यन्त विरल है, परन्तु जितनी स्वतन्त्रता से अन्य रूप पालि मे है, उतनी स्वतन्त्रता 'सन्नन्त' के रूपो की नहीं मिल पाई है। जिन

धातुओं से सस्कृत में स्वार्थ में 'सन्' होता है उन्ही धातुओं से पालि मे भी स्वार्थ में 'सन्' होता है।

	संस्कृत सन्नन्त	पालि सन्नन्त
भुज् धातु	बुभुक्षति	बुभुक्खति
घस् धातु	जिघत्सति	जिघच्छति
श्रु	शुश्रूषति	सुस्सूसति
पा	पिपासति	पिवासति
जि	जिगीषति	जिगिसति
हृ	जिहीर्षति	जिगिसति

नोट—'जि' और 'हृ' (हर), दोनों के स्थान में पालि में 'गि' आदेश होता है। स्वार्थ मे 'सन्' नीचे लिखी धातुओं से होता है—

तिज्—तितिक्षति (ते)	तितिक्खति
गुप्—जुगुप्सति (ते)	जिगुच्छति
कित्—चिकित्सति—	चिकिच्छति, तिकिच्छति
मान्—मीमांसते—	वीमंसते

सन्नंत धातु से णिच् होने पर भी पूर्ववत् अय् और आपय् होगे। यथा—

लङ्	अभावीया,	अभावीयु	अभावीयत्थ	अभावीयत्थु
लृट्	भावीयिस्सति	भावीयिस्सन्ति	भावीयिस्सते	भावीयिस्सन्ते
लृङ्	अभावीयिस्सा	अभावीयिस्संसु	अभावीयिस्सथ	अभावीयिस्संसु
लुङ्	अभावीयि	अभावीयिंसु	अभावीयित्थ	अभावीयू

तिज्—तितिक्खयति, तितिक्खापयति

कित्—तिकिच्छयति, तिकिच्छेति, तिकिच्छापयति, तिकिच्छापेति।

भुज्—बुभुक्खयति, बुभुक्खापयति।

यङन्त तथा यङ्लुगन्त

क्रिया की आवृत्ति या अतिशयता दिखलाने के लिए संस्कृत में यङ् तथा यङ् लुक् होते हैं। पालि-व्याकरण मे इस सबंध मे विशेष सूत्र दृष्टिगोचर न होने पर भी कुछ प्रयोग मिलते हैं। यथार्थ मे जहाँ विशेष सूत्र उपलब्ध होते भी हैं, वहाँ भी प्रायः सस्कृत के रूपों मे ही परिवर्तन होकर पालि-रूप दिखायी देता है। मूल धातु से पालि में इन रूपों का सिद्ध करना सभव नही है। उदाहरण के लिए 'ज्वल्'

धातु ली जा सकती है। संस्कृत में जाज्वल्यति (ते) रूप होता है किन्तु पालि में 'ज्वल' का 'दल' हो जाता है अतएव 'दादल्लति' रूप बनता है।

कुछ अन्य धातुओं के उदाहरण नीचे दिए जाते है—

	सं० रूप	पालिरूप
क्रम् (पालि-कम)	चमीङ्क्रति	चङ्कमति
गम्	जङ्गमीति	जङ्गमति
चल्	चञ्चलीति	चञ्चलति
लप्	लालप्यति (ते), लालपीति	लालप्पति, लालपति

नाम धातु

नाम (संज्ञा) से तद्वत् आचरण करने में जो क्रियाएँ बनती है वे नाम धातु कहलाती है। इस सम्बन्ध मे पालि मे प्राय संस्कृत के समान ही नियम है, जैसे—

पब्बत (पर्वत) के समान आचरण करना=पब्बतायति।

समुद्द „ „ =समुद्दायति।

धूम „ „ =धूमायति।

नोट—(१) ये उदाहरण तो तब थे जबकि उपमान कर्ता था, परन्तु जब उपमान कर्म होता है तो इस प्रकार रूप बनते है, जैसे पुत्रमिव आचरति शिष्य.=पुत्तीयति।

छत्त से=छत्तीयति।

(२) किसी वस्तु के प्राप्त करने के लिए अपनी निजी इच्छा होने पर इच्छार्थक धातु के कर्मभूत शब्द से उत्तर ईय होता है—

(क) अत्तनो पत्त (पात्र) इच्छति=पत्तीयति।

(ख) अत्तनो वत्थ (वस्त्र) इच्छति=वत्थीयति।

(ग) „ चीवर „ =चीवरीयति।

„ पट „ =पटीयति।

„ पुत „ =पुत्तीयति

(३) दळ्ह करोति=दळ्हति, पमाण करोति=पमाणयति आदि प्रयोग संस्कृत के समान होते है।

कर्म और भाव-वाच्य

संस्कृत के समान पालि में भी क्रियाओं के कर्मवाच्य, भाववाच्य और कर्मकर्तृ वाच्य प्रत्यय होते हैं। कर्म की प्रधानता रहने से, अभिहित होने पर जब वह प्रथमा में होता है तब क्रिया में कर्मवाच्य प्रत्यय होते हैं, जैसे—देवदत्त अन्न पकाता है; किन्तु जब अन्न अभिहित होकर प्रथमा मे होगा तब यह रूप होगा—अन्न देवदत्त से पकाया जाता है। यह कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में होता है। अकर्मक धातुओं मे जब केवल भाव अर्थात् क्रिया मात्र द्योतित करना अभीष्ट होता है, उस समय कर्ता अप्रधान हो जाता है जैसे, मैं सोता हू, मुझसे सोया जाता है। कभी-कभी कर्म ही कर्ता के रूप में आकर क्रिया करता है। इस प्रकार के प्रयोग को कर्मकर्तृ प्रयोग कहते हैं, जैसे, चावल पकता है, रास्ता चलता है आदि।

संस्कृत के अनुसार पालि में भी इन तीनों प्रकारों मे यकार होता है और फिर साधारण रूप के नियमों के अनुसार यथासम्भव सन्धि-कार्य आदि होते हैं। पालि में संस्कृत से भिन्न कर्म और भाव-वाच्य परस्मैपद और आत्मनेपद, दोनों पदों मे प्रयुक्त होते हैं। जैसे—पच्यते—पच्चते, पच्चति

बुध्यते—बुज्झते, बुज्झति

उच्यते—उच्चते, उच्चति वुच्चते, वुच्चति

नोट—(१) य प्रत्यय होने पर सभी धातुओं से परे विभक्ति और य-कार से पूर्व इकार आगम होता है, जैसे—

तुस धातु (तुष्)—तुस्सते, तुसियति।

पुच्छ (पृच्छ्)—पुच्छते, पुच्छियति।

दंस (दंश्)—दस्सते, दसियति।

भञ्ज— भञ्जते, भञ्जियति।

सुप (स्वप्)—सुप्पते, सुपियते।

नन्द— नन्दियते।

मह— महीयति।

मय— मयीयति।

(२) निम्नलिखित रूप भी ध्यान देने योग्य हैं—

'इ' धातु ईयते, हु—हूयते;

'सु' ,, सूयते

भू	भूयते
लू	लूयते
पू	पूयते
जन	जायते, जञ्जते।
तन	तायते, तञ्जते।
वह	उय्हते, वुल्हति।
यज	इज्जते।
वच	उच्चते, वुच्चते।
इस	इस्सते, इस्सति, एसीयति, इच्छीयति।
दिस (दृश्)	दिस्सति, पस्सीयति, दक्खीयति।
यम	यमीयति, यच्छीयति।
गम	गच्छीयति, गच्छीयते।
वद	वज्जीयति, वदीयति।
नि+सद	निसज्जते।
दा	दीयते।
पा	पीयते।
ठा	ठीयते।
मा	मायते।
हा	हीयते
धा	धीयते।
कर	करीयति, करियति, कयिरति, कय्यति।
जर	जीरीयति, जीय्यति।
चुर	चोरयति।
चिन्त	चिन्तयति।
भू (णिच-कर्मवाच्य)	भावीयति

(२) अन्य लकार यथा नियम विभक्ति (प्रत्यय) आदि के संयोग से होते हैं उदाहरण के लिए भिन्न-भिन्न लकारों में 'पच' धातु के रूप दिये जाते हैं—

पच धातु

प्रथम पुरुष

	परस्मैपद		आत्मनेपद	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
लट्	पच्चति	पच्चन्ति	पच्चते	पच्चन्ते
विधिलिङ्	पच्चे, पच्चेय्य	पच्चेय्यु	पच्चेथ	पच्चेरं
लोट्	पच्चतु	पच्चन्तु	पच्चतं	पच्चन्तं
लङ्	अपच्चा	अपच्चु	अपच्चत्थ	अपच्चथ, अपच्चत्थु
लिट्	पपच्च	पपच्चु	पपच्चित्थ	पपच्चिरे
लृट्	पच्चिस्सति	पच्चिस्सन्ति	पच्चिस्सते	पच्चिस्सन्ते
लृङ्	अपच्चिस्सा, अपच्चि	अपच्चिस्समु, अपचिसु	अपच्चिस्सथ	अपच्चिस्सिंसु
लुङ्	अपच्चि, पच्चि	अपच्चिसु, पच्चिसु	अपच्चित्थ, पच्चित्थ	अपच्चू, पच्चू

भू धातु—णिजन्त-कर्मवाच्य

प्रथम पुरुष

	परस्मै पद		आत्मनेपद	
	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
लट्	भावीयति	भावीयन्ति	भावीयते	भावीयन्ते
विधि०	भावीयेय्य	भावीयेय्यु	भावीयेथ	भावीयेरं
लोट्	भावीयतु	भावीयन्तु	भावीयतं	भावीयन्तं

प्रत्यय-प्रकरण

तद्धित

धातुओं में प्रत्यय के योग से जो प्रातिपदिक बनते हैं उनको 'कित्' प्रत्ययान्त कहते हैं। प्रातिपदिक से अपत्य आदि अर्थ में जो प्रत्यय लगकर जो दूसरे प्रातिपदिक बनते हैं वे तद्धित प्रत्ययान्त कहलाते हैं। पालि में प्रायः संस्कृत प्रत्ययान्त से परिवर्तन होता है, फिर भी कहीं कहीं उसमे अपने स्थान से भी प्रत्यय होते हैं। ऐसे कुछ प्रत्ययों की विवेचना यहां की जा रही है।

जात—उत्पन्न आदि अर्थ में इम प्रत्यय होता है; जैसे—पच्छा (पश्चात्) +इम=पच्छिमो (स० पश्चिम) अन्त+इम=अन्तिमो; मज्झ+इम= मज्झिमो। हेट्ठा+इम=हेट्ठिमो।

संस्कृत में योग्य अर्थ में कृदन्त प्रत्यय अनीयर होता है जैसे 'वन्द' धातु से वन्दन करने योग्य अर्थ में वन्दनीय होता है किन्तु पालि में स्थानवाचक होने पर भी बन्धन आदि पदों से 'ईय' प्रत्यय से शब्द बनाये जाते हैं, जैसे—बन्धन का स्थान 'बन्धनीय' कहलाता है; मदन का स्थान 'मदनीय'; मुञ्चन (मोचन) का स्थान 'मुञ्चनीय'; उपादान का स्थान 'उपादानीय'।

कुछ प्रत्यय पालि में ऐसे मिलते हैं जो केवल पालि की ही सम्पत्ति हैं। ऐसे प्रत्ययों के समान न तो संस्कृत में हैं और न बाद की भाषाओं में ही उनका कहीं पता चलता है। 'आयितत्त' ऐसा ही एक प्रत्यय है। यह प्रत्यय 'उपमा' की सूचना देता है जैसे—'धुमो विय दिस्सति' इति धुमायितत्त। इसी प्रकार तिमिरायितत्त भी होता है।

'आश्रय' या 'स्थान' के द्योतन के लिए पालि में 'ल्ल' प्रत्यय होता है, जैसे—'दुट्ठु निस्सित' अथवा 'दुट्ठुट्ठान' इस अर्थ में 'दुट्ठुल्ल' शब्द होता है। इसी प्रकार वेदस्सठान इस अर्थ में 'वेदल्ल' होता है।

भावार्थक 'त्व' के अर्थ में पालि में 'त्तन' प्रत्यय होता है, जैसे—पुथुज्जनस्स भावो (पृथग्जनस्य भाव) पुथुज्जत्तन, वेदस्स भावो—वेदनत्तन।

इसी अर्थ में पालि में 'ब्य' प्रत्यय भी होता है, जैसे—दासब्य। कहीं कहीं 'एय्य' प्रत्यय भी होता है, जैसे आलसेय्य।

पालि में निर्धारण के लिए तर, तम और इट्ठ प्रत्यय आते हैं। इनके अतिरिक्त 'इस्सिक' तथा 'इय' प्रत्यय भी निर्धारण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—पापतरो, पापतमो, पापिट्ठो, पापिस्सिको, पापियो, पटुतरो, पटुतमो, पटिट्ठो, पटिस्सिको, पटियो।

पालि में 'इतन बार' की सूचना के लिए संख्यावाचक शब्द में 'क्खत्तु' प्रत्यय लगा कर शब्द बनाये जाते हैं, जैसे—ति+क्खत्तु=तिक्खत्तु (त्रिकृत्वा); पञ्चक्खत्तु (पञ्चकृत्वा)। इसी प्रकार एकक्खत्तु, दुक्खत्तु (या द्विक्खत्तु) आदि शब्द बनते हैं।

पालि में 'लोम' शब्द के साथ 'स' प्रत्यय लगाकर 'लोमस' शब्द बनता है जिसका

अर्थ होता है 'अधिक लोम वाला'। यह शब्द संस्कृत के 'लोम+श' = 'लोमश' के आधार पर बना है। इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी 'स' प्रत्यय लग कर इसी अर्थ के द्योतक शब्द बनते हैं।

कुछ अन्य तद्धित प्रत्यय

(१) ण, णायन णेय्यो, णि, णेर=वसिट्ठ+ण (वासेट्ठो); वसुदेव+ण (वासुदेव); कच्च+णायन (कच्चायण); कत्तिका+णेय्यो (कत्तिकेयो); दोन+णि (दोणि); सक्यपुत्त+णि (साक्यपुत्ति); विधवा+णेर (वेधवेर)।

(२) णिक=तिल+णिक (तेलिक); सकट+णिक (साकटिक)। नाव+णिक (नाविक); असि+णिक (असिक); काय+णिक (कायिक); द्वार+णिक (दोवारिक); मगध+णिक (मागधिक)।

(३) ण, अ कसाव+ण (कासाव), हलिद्दा+ण (हालिद्दा); महिस+ण (माहिस), मनु+ण (मानव), मगध+ण (मागध)

(४) कण, ता=मनुस्स+कण (मानुस्सको), जन+ता (जनता)

(५) क=पुत्त+क (पुत्तक), कुमार+क (कुमारक)।

(६) आलु=दया+आलु (दयालु), अभिज्झा+आलु (अभिज्झालु)

(७) ण्य, य, त्त, ता=अलस+ण्य (आलस्स), ओदारिक+त्त (ओदारिकत्त)

(८) वन्तु, मन्तु=गुण+वन्तु (गुणवा), सति+मन्तु (सतिमा)

(९) मय=सुवण्ण+मय (सुवण्णमय)

(१०) वी=मेधा+वी (मेधावी)

स्त्री-प्रत्यय

संस्कृत में इन् प्रत्ययान्त शब्दों से ई प्रत्यय (ङीप्) होता है जैसे खड्गधारिन्=खड्गधारिणी, ब्रह्मचारिन=ब्रह्मचारिणी। पालि में इन प्रत्ययान्तों से तो ई प्रत्यय होता ही है, किन्तु अन्य इकारान्त व उकारान्त शब्दों से भी 'नी' प्रत्यय होता है। कहीं-कहीं 'ई' और 'इनी' दोनों प्रत्यय होते हैं, जैसे—हत्थि=हत्थिनी बन्धु=बन्धुनी, भिक्खु=भिक्खुनी, पटु=पटुनी, यक्ख=यक्खिनी, नाग=नागिनी, सीह=सीही, सीहिनी; मिग=मिगी, मिगिनी; पालि में गहपति=गहपतानी जैसे प्रयोग भी पाये जाते हैं। ये प्रयोग संस्कृत के इन्द्र=इन्द्राणी, आचार्य=आचार्याणी, आदि के अनुकरण में किये गये हैं। हिन्दी में 'पण्डितानी' आदि का

प्रयोग भी ऐसा ही है।

पालि मे अनेक शब्दो मे आ, ई तथा इनी, तीनो प्रत्यय पाये जाते हैं, जैसे—मानुस=मानुसा, मानुसी, मानुसिनी, कुम्भकार=कुम्भकारा, कुम्भकारी, कुम्भकारिणी, यक्ख=यक्खी, यक्खिनी। अत्थकाम=अत्थकामा, अत्थकामी, अत्थकामिनी।

कृदन्त

पालि मे सस्कृत के समान दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं—कृदन्त (कदन्त) तथा तद्धित। कित प्रत्यय क्रियाओं मे लगते है। कुछ कित प्रत्ययो को लगाकर क्रिया शब्दो से विशेषण का काम लिया जाता है। क्रियाओ से बनने वाले विशेषण तीन प्रकार के होते हैं—(१) वर्तमानकालिक, (२) भूतकालिक, तथा (३) भविष्यत्कालिक। सस्कृत मे वर्तमान काल को सूचित करने के हेतु, परस्मैपदीय धातुओ म शतृ प्रत्यय तथा आत्मनेपदीय धातुओ म शानच् प्रत्यय लगता है किन्तु पालि म 'शतृ' के स्थान पर 'अन्त' एव 'शानच्' के स्थान पर 'आन' अथवा 'मान' प्रत्यय लगता है। सस्कृत मे भविष्यत्काल की सूचना देने वाला प्रत्यय 'स्यत्' होता है। पालि मे उसके स्थान पर 'स्स' वा 'स्सन्तु' होता है। जिस प्रकार सस्कृत में परस्मैपदीय धातुओ मे 'शतृ' और आत्मेनपदीय धातुओं मे 'शानच्' प्रत्यय लगाने का नियम है पालि मे वैसा कोई नियम नही है।

जिन शब्दो के अन्त मे 'अन्त' 'स्स' वा 'स्सन्तु' प्रत्यय होता है उनके रूप 'गच्छन्त' शब्द के समान होते हैं। तथा 'आन' और 'मान' प्रत्यय जिन शब्दो के अत मे होते हैं उनके रूप वुद्ध या नर के समान होते हैं।

सस्कृत का ज्ञान रखने वालो को यह न भुला देना चाहिए कि पालि मे आत्मनेपद की अधिकांश धातुएँ परस्मैपदीय प्रत्ययो मे अपना रूप निर्मित करती हैं, किन्तु उनके अपने आत्मनेपदीय रूप भी सुरक्षित हैं, अतएव जहाँ 'भास' धातु से 'भासति' रूप बनता है वहाँ 'भासमानो' जैसे रूप भी बनते हैं। इसके अतिरिक्त परस्मैपद की धातुओं के साथ पालि मे 'आत्मनेपदीय' प्रत्यय भी लगते हैं, जैसे 'खादमान', 'विहरमान'। इसी प्रकार आत्मनेपद की धातुएँ परस्मैपदीय प्रत्ययो से भी अपने रूप बनाती है, जैसे—'भज' से 'भजन्त' आदि।

वर्तमानकालिक विशेषण

(१) गम (गच्छ) + अन्त=गच्छन्तो, गम (गच्छ) + मान=गच्छ-

मानो।

(२) कर+अन्त=करोन्तो; कर+मान=कुरुमानो; कर+आन=करानो।

नोट—कर धातु से अन्त प्रत्यय लगाकर 'कुब्बन्तो' रूप भी बनता है।

(३) भुञ्ज+अन्त=भुञ्जन्तो, भुञ्ज+मान=भुञ्जमानो;

(४) खाद+अन्त=खादन्तो, खाद+मान=खादमानो,

(५) चर+अन्त=चरन्तो, चर+मान=चरमानो; चर+आन=चरानो।

नोट—अन्त, अन्तु (स्सन्तु) प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिंग में ई प्रत्यय होता है और तब अन्त आदि के नकार का विकल्प से लोप हो जाता है, जैसे—गच्छती गच्छन्ती; करिस्सती, करिस्सन्ती; इन शब्दों के रूप 'इत्थी' शब्द के समान होते हैं।

(२) आन और मान प्रत्यय वाले शब्दों के स्त्रीलिंग में 'आ' प्रत्यय हो जाता है और उनके रूप 'कञ्ञा' या 'लता' के समान चलते हैं।

(३) नपुसक लिंग में इनके रूप 'चित्त' शब्द के समान होते हैं।

भूतकालीक विशेषण

(१) धातु में 'त' प्रत्यय लगाकर भूतकालिक विशेषण बनाये जाते हैं। जैसे पच+त=पक्क; कर+त=कत; दुह+त=दुद्ध; गम+त=गत; वच+त=वुत्त।

(२) धातु मे 'न' प्रत्यय लगाकर भी भूतकालिक विशेषण बनाया जाता है, जैसे—दा+न=दिन्नो, चर+न=चिन्नो, ली+न=लीनो।

कर्मप्रधान भूतकालिक विशेषण

कभी-कभी धातु में 'त' प्रत्यय से पूर्व 'इ' लगाकर भी बनाया जाता है, जैसे इष (इच्छ)+इ+त=इच्छित। इसी प्रकार वपित, याचित आदि भी।

कर्तृप्रधान भूतकालिक विशेषण

यह विशेषण 'वन्' और 'वन्त' प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। वत और 'वन्त' का केवल 'वा' शेष रह जाता है जैसे—भुत्तवा, आदिन्नवा आदि।

भविष्यत्कालिक विशेषण

स [illegible] त में भ [illegible] का [illegible] वि [illegible] र [illegible] या जाता है

किन्तु पालि में 'स्स' या 'स्सन्तु' प्रत्यय लगता है, जैसे—गम (गच्छ)+स्स= गमिस्स, कर+स्स=करिस्स आदि।

भविष्यत्कालिक विशेषण धातु में 'तब्ब' प्रत्यय लगाकर भी बनाया जाता है, जैसे—दा+तब्ब=दातब्ब, हा+तब्ब=हातब्ब, नी+तब्ब=नेतब्ब, भू+तब्ब=भवितब्ब।

कभी-कभी 'आनीय' या 'य' प्रत्यय जोड़कर भी यह विशेषण बनाया जाता है, जैसे—गमनीय, करणीय, नेय्य,देय्य आदि।

तावी प्रत्यय

धातु मे 'तावी' प्रत्यय लगाकर कर्तृवाच्य मे भूतकाल की सूचना दी जाती है, जैसे—'भुक्तवान्' के अर्थ मे पालि में 'भुज' धातु से 'भुत्तावी' होता है। इसी प्रकार 'हु' धातु मे 'हुतावी', 'वस' धातु से 'वुसितावी' आदि।

नोट—'तावी' प्रत्ययान्त शब्द के रूप 'दण्डी' के समान चलते हैं।

आवी प्रत्यय

किसी क्रिया के करने मे करने वाले का शील (स्वभाव) या उसकी सरलता प्रकट करने के लिए 'आवी' प्रत्यय लगाकर धातु से शब्द बनाया जाता है, जैसे—भयदस्सावी=(१ स्वभावत ही भय देखने वाला, २ भय दिखाने मे कुशल)।

नोट—'तावी' और 'आवी' प्रत्ययान्त शब्दो के स्त्रीलिंग मे 'इनी' प्रत्यय होता है, जैसे—हुतावी से 'हुताविनी', भुतावी से 'भुताविनी', वुसितावी से 'वुसिताविनी', भयदस्सावी से 'भयदस्साविनी'।

त, तवन्तु प्रत्यय

संस्कृत के 'क्त' और 'क्तवतु' के स्थान मे यथाक्रम 'त' और 'तवन्तु' प्रत्यय पालि मे प्रयुक्त होते हैं।

नोट—'त' प्रत्यायान्त शब्द के रूप अकारान्त शब्द के समान तथा 'तवन्तु' प्रत्ययान्त शब्द के रूप गुणवन्तु के समान होते हैं, जैसे—हु+त=हुतो; हु+तवन्तु=हुतवा। वच+त=उत्तो, वच+तवन्तु=उत्तवा। वस+त=उसितो वुसितो, उत्थो, वुत्थो। यज+त=यिट्ठो।

भञ्ज+त=भग्गो। नत (नृत)+त=नच्च। सुप (सुप)+त=सुत्तं। वुध (वृध्)+त=वुड्ढो। रुद+त=रोदित, रुण्ण। वत+त=वत्तो। दा+त=दत्त, दिन्न। धा+त=हित, धात। मुह+त=मुल्हो। गुह+त=गुल्हो।

वह+तो=उल्हो। ग्रास+त=ग्रामीनो। चर+त=चिण्णो।

ऊ प्रत्यय

यह प्रत्यय प्रायः 'गम', विद या जा (ज्ञा) धातु के अन्त में लगता है, किन्तु 'गम' के पूर्व पार आदि उपपद, जा और विद के पूर्व कोई अन्य उपपद अवश्य होता है, जैसे—

पार+गम+ऊ =पारगू (पारगः)।
लोक+विद+ऊ =लोकविदू (लोकवित्)।
वि+जा+ऊ =विञ्ञू (विज्ञः।
सब्ब+जा+ऊ =सब्बञ्ञू (सर्वज्ञः)।

त्वा, त्वान, तून (क्त्वा)

संस्कृत के 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर पालि में पूर्वकालिक क्रिया में 'त्वा' 'त्वान' और 'तून' प्रत्यय होते है। इनमें से 'तून' का प्रयोग बहुत कम होता है।

१. कर+त्वा =कत्वा, करित्वा
कर+त्वान =कत्वान
कर+तून =कत्तून
२. गम+त्वा =गन्त्वा
गम+त्वान =गन्त्वान
गम+तून =गन्तून
३. हन+त्वा =हन्त्वा
हन+त्वान =हन्त्वान
हन+तून =हन्तून
४. प+आप (स० प्राप्)+त्वा=पत्वा, पापुणित्वा।
५. जित+वा=जित्वा, जेत्वा, जिनित्वा।

य (ल्यप्) प्रत्यय

संस्कृत ल्यप् प्रत्यय के स्थान में पालि में 'य' प्रत्यय होता है। संस्कृत में धातु के पूर्व उपसर्ग होने पर ही ल्यप् प्रत्यय होता है किन्तु पालि में उपसर्ग के न होने पर भी यह प्रत्यय हो जाता है। पालि में 'य' प्रत्यय विकल्प से 'त्वा' के स्थान पर भी हो जाता है, जैसे

१. वन्दय+य =वन्दिय

२. उप+नी+य=उपनीय
३ नि+सि (श्रि)+य=निस्साय

नोट—आकारान्त धातु से परवर्तीयकार का कभी कभी लोप हो जाता है, जैसे—

अनुपा+दा+य=अनुपादा
अभि+जा (ज्ञा)+य=अभिञ्ञा

तु, तवे, तुये और ताये प्रत्यय

संस्कृत के 'तुमन्' प्रत्यय के स्थान पर पालि मे 'तु' और 'तवे' प्रत्यय होते हैं। तवे' का प्रयोग वैदिक साहित्य से आया है किन्तु पालि मे इसका बहुत कम प्रयोग होता है।

तु—

कर+तु=कत्तु, कातु
मन+तु=मन्तु, मनितु
हन+तु=हन्तु, हनितु
सु+तु=सोतु, सुणितु
जि+तु=जेतु, जिनितु
भुज+तु=भोक्तु, भुञ्जितु
ञा+तु=ञातु, ञानितु
गह+तु=गहेतु, गण्हितु
पच+तु=पचितु
वद+तु=वदितु

तवे—

कर+तवे=कत्तवे, कातवे
गम+तवे=गन्तवे
नी+तवे=नेतवे
नि+धा+तवे=निधातवे

तुये—

कर+तुये=कातुये
मर+तुये+मरितुये

गण + तुये = गणेतुये

तायै—

दिस (दृश्) + तायै = दक्खितायै।

नोट—'गम' धातु में 'तुं' प्रत्यय कभी कभी सीधा लग जाता है, जैसे 'गन्तुं'; किन्तु अन्त में इ वा ई तथा उ वा ऊ वाले धातुओं में गुण हो जाता है, जैसे—

नी + तु = नेतु। जि + तुं = जेतु। सु + तुं = सोतु।

कत प्रत्यय

इन प्रत्ययों के प्रयोग से धातुओं से अनेक शब्द बन जाते हैं। ध्यान रखने की बात यह है कि ये प्रत्यय प्रायः क्रिया पदों में ही लगते हैं।

उक्त प्रत्ययों से बने हुए कुछ शब्द—

(१) अ—पच + अ = पाक, चज + अ = चाग, युज + अ = योग।

(२) अक—दा + अक = दायक, वाद + अक = वादक

(३) अन—गह + अन = गहण, ठा + अन = ठान

(४) इ—नि + धा + इ = निधि, रुच + इ = रुचि

(५) णी—या + णी = यायी, कर + णी = कारी।

(६) *मन—धर + मन = धम्मो, कर + मन = कम्मं*

(७) ति—गम + ति = गति, धर + ति = धिति, ठा + ति = ठिति।

(८) य—राज + य = रज्जं, युज + य = योग्ग।

अव्यय

पालि में क्रियाविशेषण, प्रत्यय, संयोजक आदि अव्यय कहलाते हैं। इनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ इस गाथा में देख सकते हैं :—

सदिसा ये तिलिङ्गेसु सब्बासु च विभत्तीसु।
वचनेसु च सब्बेसु ते निपातानि वित्तिता॥

अर्थात् 'अव्यय' वे शब्द हैं जो तीनों लिंगों, सब वचनों और कारकों में एक से रहते हैं।

स्थूल रूप से अव्यय शब्दों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, उपसग्ग (उपसर्ग) तथा निपात। उपसग्गों की संख्या २० है। वे ये हैं—प, परा, नि, नी, उ, दु, सं, वि, अव, अनु, परि, अधि, अभि, पति, सु, आ, अति, अप, उप।

निपात ये हैं :—च, न, व, वा, मा, हि, तु, नु, खो, वे, नो, किर, एव, वत, अथ, अट्ठ, इङ्घ, नाम, आम, नुन, पुन, पन, मुसा, सह, सद्धि, दिवा, आरा, विना, अद्धा, आवि, यहि, यदि, इति, सोत्थि, खलु, ननु, किमु, सचे. हवे, सुवे, अरे, पुरे, नमो, तिरो, अधो, अहो, हिय्यो, भिय्यो, अन्तो, पातो, सुद, कल्ल, धुव, अल, सय, सम, साम, काम, चिर, हुर, ओर, उच्च, नीच, सकि, अथवा, अन्तरा, आरका, समन्ता, सम्पति, उपरि, सनिक आदि।

इनमे से हि, अथ, किर, किल, खलु, ननु, नुन आदि त्रिया विशेषण है।

कुछ उपसर्गों का प्रयोग सज्ञाओ और सर्वनामो के कारको के साथ किया जाता है, जैसे, अनु, पति, अधी तथा परि। पालि मे बहुत थोडे सयोजक अव्यय हैं। उनमे से प्रमुख ये है—च, वा, तु, यदि, अपि, पि आदि।

विस्मयादि बोधक अव्यय तो पालि मे और भी कम हैं। प्रमुख ये है अहह, अहोवत, अरे, भो आदि।

परिशिष्ट

अनुवाद

(१)

१. नौकर गड्ढा खोदता है।
किंकरो आवाटं खणति।
२. वानर वृक्षों पर विहार करते हैं।
वानरा रुक्खेसु विहरन्ति।
३. मैं पुत्रों को उपदेश देता हूँ।
अहं पुत्ते ओवदामि।
४. वह खड्ग से शत्रु को जीतता है।
सो खग्गेन पच्चामित्तं जयति।
५. वह गाँव से निकल जाता है।
सो गामा निक्खमति।
६. राजाओं के घोड़े दौड़ते हैं।
भूपानं अस्सा धावन्ति।
७. मनुष्य गाँव में रहते हैं।
नरा गामे वसन्ति।
८. सिंह मृगों को खा जाते हैं।
सीहा मिगे खादन्ति
९. तुम धर्म का अनुसरण नहीं करते हो।
त्वं धम्मं न अनुसरसि।
१०. आप लोग मच पर सो जाओ।
तुम्हे मञ्चके सयथ।

(२)

(१) घोड़े घुड़साल में घुसते हैं।
अस्सा अस्ससाल पविसन्ति।

(२) देवता लोग मंगलवृक्ष पर चढ़ते है।
देवतायो मङ्गलरुक्ख आरुहन्ति।

(३) प्रजा राजपुत्र को राज्य पर अभिषिक्त करती है।
पजा राजपुत्त रज्जे अभिसिञ्चति।

(४) बकरियाँ पत्ते खाने के लिए गर्दन को ऊँचा उठाती हैं।
अजा पण्णानि भुञ्जितु गीव उक्खिपन्ति।

(५) वे गंगा के जल से फूल सींचते हैं।
ते गङ्गय जलेन पुप्फानि सिञ्चति।

(६) नर पराक्रम से पुण्य-लाभ करते हैं।
नरा विरियेन पुञ्ञ विन्दन्ति।

(७) यमुना फूलों की माला से शोभित है।
यमुना पुप्फान मालाहि सोभति।

(८) वृद्ध भिक्षु (थेर) लोभ से मूल को भी नष्ट करता है।
थेरो तण्हाय मूल छिन्दति।

(९) कन्या समाधि के आंगन को गोबर से लीपती है।
कञ्ञा चेतियस्स अङ्गन गोमयेन लिम्पति।

(१०) पुष्ट हाथी सूँड से यमुना के जल को बिखेरता है।
पुट्ठो वारणो सोण्डाय यमुनाय जल अविरति।

(३)

(१) चतुर पुरुष मणियों की निधि का अर्जन करते है।
पटवो पुरिसा मणीन निधि अज्जेन्ति।

(२) कवि भिक्षुओं के गुणों का वर्णन करता है।
कवि भिक्खून गुणे वण्णेति।

(३) ब्राह्मण बलि को तालाब में छोड़ता है।
ब्राह्मणो बलयो तळाके छड्डयति।

(४) राजा भिक्षुओं को आमन्त्रित करता है।

नरपति भिक्खू ग्रामन्तेति।

(५) सेनापति सेना की तलवारें गिनता है।
सेनापति सेनाय असी गणेति।

(६) बन्दर उद्यान में फल चुराते हैं।
कपयो उय्यानम्हा फलानि चोरेन्ति।

(७) हे ऋषियो ! आप लोग बुद्ध के गुणों का वर्णन क्यों नहीं करते ?
भो इसयो ! तुम्हे कस्मा बुद्धस्स गुणे न वण्णेथ ?

(८) तुम दो बन्दरों की कथा नहीं कहते हो।
त्वं द्विन्न कपीनं कथं न कथेसि।

(९) आचार्य शिष्यों को पाप से छुड़ाते हैं।
आचरियो अन्तेवासिके पापम्हा निवारयति।

(४)

(१) हड्डियों के ऊपर कौओं में झगड़ा होता है।
अट्ठीनि निस्साय काकानं कलहो उप्पज्जति।

(२) मुझे मधु और दधि नहीं चाहिए।
अलं मे मधुना दधिना च।

(३) वहाँ एक खरगोश एक ताल-समूह में बसता है।
तत्थेको ससो एकस्स तालगच्छस्स हेट्ठा वसति।

(४) बन्दर प्रतिदिन गंगा के पार जाते हैं।
वानरा पच्चह गङ्गाय पारं गच्छन्ति।

(५) बक की आँखों से आँसू टपकते हैं।
बकस्स चक्खूनि अस्सुना पग्घरन्ति।

(६) लकड़हारा लकड़ियाँ लेकर लौटता है।
भारहारको दारुहि सद्धि पच्चागच्छति।

(७) ब्राह्मण आग की लपट पर घी डालता है।
ब्राह्मणो अग्गिस्स उपरि सप्पिं पक्खिपति।

(८) ब्राह्मण शशक के लिए तिल नहीं दे सकता।
ब्राह्मणो ससाय तिलानि दातु न सक्कोति।

(९) परिव्राजक की जाँघ में घाव हो गया।

परिब्बाजकस्स सत्थिस्मि अरु जात ।

(१०) मेरे तीन धनुष होते हैं ।
मम तीणि धनूनि होन्ति ।

(५)

(१) यदि मुझे आम का फल न मिला तो मैं मरजाऊँगी ।
सचाह (सचे+अह) अम्बफल न लभिस्सामि, मरिस्सामि ।

(२) मैं राज्य भोगूगा और जाति वालो का भरण करूगा ।
अह रज्ज भुञ्जिस्सामि, ञातके च भरिस्सामि ।

(३) मकर मुझे धोखा दे देगा और खा लेगा ।
सुसुमारो म वञ्चेस्सति, खादिस्सति च ।

(४) यदि देव सम्यक निवास नही करेगे तो पानी कहाँ से मिलेगा ?
देवो यदि सम्मा न वस्सिस्सति, कुतो पानीय लभिस्साम ।

(५) अवश्य ही उसके भीतर लोकोत्तर धर्म होगा ।
अद्धा तस्स अब्भन्तरे लोकुत्तरधम्मो भविस्सति ।

(६) हाथी हथिनियो के साथ वन म विचरते है ।
हत्थिनो हत्थिनीभि सह वने विचरन्ति ।

(७) नौकर सावधान होकर स्वामी की सेवा करे ।
किङ्करो सामिन अप्पमादेन सेवतु ।

(८) पापी पुरुष की स्त्री दु खी होती है ।
पापिनो पुरिसस्स इत्थी दुक्खिनी होति ।

(९) माली स्वामिनी के लिए फूल और फल लायगा ।
माली सामिनिया पुप्फानि च फलानि च आहरिस्सति ।

(१०) मत डरो, उसका पुत्र दीर्घजीवी होगा ।
मा भायथ, तस्सा पुत्तो दीघजीवी हेस्सति ।

(६)

(१) उनके द्वारा देवदत्त के आचरण की परीक्षा की जाती है ।
देवदत्तस्स आचारो तेहि परिक्खीयते ।

(२) जब मकर मुँह फाडता है, उसकी आँख बन्द हो जाती हैं ।
यदा सुसुमारो मुख विवरति तदा तस्स अक्खीनि पिधीयन्ति ।

(३) चोरों द्वारा राजा का धन चुराया जायेगा।
चोरेहि भूपस्स धनं चोरयिस्सति।

(४) यह ब्राह्मण उन वलियों को उस तालाब में छोड़ेगा।
एसो ब्राह्मणो ते वलयो अमुस्मिं तळाके छड्डेस्सति।

(५) राजपुरुष चोर का एक हाथ और दोनों पैर काट देता है।
राजपुरिसो चोरस्स एकं हत्थं उभोऽपि च पादे छिन्दति।

(६) तुम्हारा आचार्य कौन है अथवा किसका धर्म पसन्द करते हो?
को ते आचरियो, कस्स वा धम्मं रोचेसि।

(७) यह बिन्दुसार का पुत्र है।
एसो बिन्दुसारस्स पुत्तो।

(८) यह नौसिखिया इस घर का स्वामी होगा।
अयं सामणेरो इमस्स गेहस्स सामिको भविस्सति।

(९) अक्रुद्ध उल्लू का मुँह ऐसा है, तो क्रुद्ध का कैसा होगा?
अकुद्धस्स उलूकस्स मुखं ईदिसं, कुद्धस्स ताव कीदिसं भविस्सति।

(१०) गंगा के तीर पर ये वृक्ष बढ़ते हैं।
गंगाय तीरे इमे रुक्खा वड्ढन्ति।

(७)

(१) फूल से फल उत्पन्न होते हैं।
पुप्फम्हा फलानि उप्पज्जन्ति।

(२) पक्षी पत्तों में छिप जाते हैं।
दिजा पण्णेसु निलीयन्ति।

(३) बढ़ई लोग काठ को नवा देते हैं और पंडित लोग अपने आपको नवा देते हैं;
तच्छका दारुं नमयन्ति, पण्डिता पन अत्तानं नमयन्ति।

(४) इस उपाय से इन बच्चों को विनाश न होना चाहिये।
इमिना उपायेन इमे दारका न विनस्सेय्युं।

(५) छोटे पक्षी समझदार और द्युतिमान हैं।
दहरा पक्खी पञ्ञावन्तो जुतिमन्तो च सन्ति।

सीलवन्तियो इत्थियो पापक वचन न ब्रुवन्ति ।

(७) शीलवान् भिक्षुओं मे दोष नही दीखते ।
सीलवन्तेसु भिक्खुसु दोसा न दिस्सन्ति ।

(८) जब रगीन मोर बावेरु म आ गया तब कौए का सत्कार चला गया ।
यदा वण्णवा मोरो बावेरुमागमा तदा काकस्स सक्कारो अहायित्थ ।

(९) उस सम्यक् सबुद्ध भगवान् अर्हत् को नमस्कार करते हैं ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।

(१०) हे देवि ! मुझे भिक्षा दीजिये ।
भिक्ख मे देहि भो देवि ।

(८)

(१) मार्ग मे जाते हुए थेर ने बहुत सी स्त्रियाँ देखी ।
मग्गेन गच्छ थेरो बहुयो इत्थियो दिट्ठवा ।

(२) जो कामनाओं को छोड दे वही अर्हत् हो जाये ।
सचे सो काम जहेय्य अरहाऽपि हुवेय्य ।

(३) सातवें दिन भगवान् ने सौ भिक्षुओं के साथ राजगृह मे प्रवेश किया ।
सत्तमे दिवसे भगवा भिक्खुसतेहि सह राजगह पाविसि ।

(४) उस समय सौ हजार भिक्षु वहाँ एकत्र हुए ।
तम्हि समये सतसहस्सानि भिक्खवो तत्थ समागमिसु ।

(५) एक वृक्ष पर बहुत से पक्षी बैठे हुए थे ।
एकस्मि रुक्खे बहुयो सकुणा निलीयिसु ।

(६) जो जो अपने द्वारा किया गया है वह सब आचार्य को निवेदन कर देना चाहिये ।
य य अत्तना कत सब्ब त आचरियस्स आरोचेतब्ब ।

(७) इस बच्चे को कही मत जाने दो ।
इमस्स दारकस्स कत्थचि गन्तु मा देथ ।

(८) पापी मित्रों का सग नही करना चाहिये ।
पापका मित्ता न भजितब्बा ।

(९) सार्थवाहों द्वारा अनेक मार्ग चले गये, अनेक नदियाँ तरी गयी, नाना देश देखे गये और अनेक भाण्ड खरीदे गये ।

सत्थवाहेहि अनेक मग्गा चिण्णा, बहूयो नदियो तिण्णा, नाना दे दिट्ठा, अनेकानि च भण्डानि कीतानि।

(१०) मद्य नहीं पीनी चाहिए और प्राणघात नहीं करना चाहिए। मज्ज न पेय्यं, पाणातिपातो च न कातब्बो।

पालि में अनुवाद कीजिये

(१)

(१) सब नागरिक कपिलवस्तु नामक नगरी को गये।
(२) राजा ने आश्चर्य से देखा और पुत्र की वन्दना की।
(३) यह छोटा बालक आज प्रातः कुएँ पर जा रहा था।
(४) तुमने आग की ज्वाला पर घी डाला।
(५) एक दिन में सब नगरों से पत्ते आ गये।
(६) कुछ आदमी भूमि पर खड़े होते हैं।
(७) इस वन में सब पशु नष्ट हो जाते हैं।
(८) मैं पंचशील का प्रतिदिन पालन करता हूँ।
(९) ओ भिक्षु ! मद्यपान नहीं करना चाहिए।
(१०) कहीं सास कुपित होकर वधुओं को घर से बाहर न कर दे।

(२)

(१) चन्द्रमा रात को चमकेगा।
(२) सूर्य अपनी किरणों से कमल को खिला देगा।
(३) जब वर्षा होगी तो भूमि से जीवन लहराने लगेगा।
(४) देर से सोने पर नींद नहीं आयेगी।
(५) बालक अपने घर में सुखी मिलेगा।
(६) किसे पता कि घर में कौन घुस आया ?
(७) राजा ने अपने राज्य में नीति का पालन किया।
(८) राजपुरुषों ने चोर को भारी दंड दिया।
(९) विद्वान् धूर्तों की बात पर विचार नहीं करते।
(१०) हे राजा, हम लोग रथ द्वारा देश में भ्रमण करेंगे।

(३)

(१) सूर्य और चन्द्र का उदय हमारे द्वारा देखा गया।
(२) विद्वानों द्वारा मुक्ति की कामना की गयी।
(३) अकृतज्ञों द्वारा अहसान का बदला नहीं चुकाया जाता।
(४) विजेताओं द्वारा शत्रु नहीं छोड़े जाते।
(५) शिकारी द्वारा तलवार से हरिण मार दिया गया।
(६) उद्यानों में वानरों द्वारा फल खाये जाते हैं।
(७) पेड़ के नीचे स्त्रियों द्वारा चावल नहीं पकाया जा रहा।
(८) राजा के द्वारा दीनों को दान दिया जाना चाहिये।
(९) राज्य का भोग मेरे जातिवालों द्वारा किया जायेगा।
(१०) योगी की जंघा मेढे से फाड डाली गयी।

(४)

(१) मुझे शिकारी ने धोखा दे दिया।
(२) धानुष्क ने चिड़िया को दो बाणों से बेध दिया।
(३) तुम्हारे पिताजी कौन है?
(४) कुछ लोग घोड़ों पर चढते है और कुछ रथों में बैठते हैं।
(५) तुमको मुझसे कुछ चीज (किञ्चि) नहीं मिलेगी।
(६) एक वैद्य किसी वृक्ष की जड़ लाया।
(७) मैं उस झोंपड़ी में निवास करूँगा।
(८) कहिए आप क्या चाहते हैं और कुछ चीज भी माँग सकते हैं।
(९) ओ राजा! चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारे बच्चों की रक्षा करूँगा।
(१०) हाथी उसके सामने खड़ा हो गया और प्रणाम करने लगा।

कुछ प्रश्न

क—भाषा

(१) पालि भाषा किसे कहते हैं? संस्कृत के साथ उसके संबंध की व्याख्या कीजिये।
(२) 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मतों की मीमांसा करते हुए बतलाइये कि आपको कौन-सा मत स्वीकार है? अन्यथा अपना

मत दीजिये ।

(३) 'पालि' और मागधी के संबंध की व्याख्या करते हुए दोनों के साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डालिए ।

(४) 'पालि केवल बौद्ध-धर्म की भाषा थी', इस उक्ति की मीमांसा करते हुए उसके समय और विस्तार पर अपना मत प्रकट कीजिये ।

(५) हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन में पालि-अध्ययन कहां तक उपयोगी है, इस सम्बन्ध में अपना मत दीजिए ।

(६) 'वैदिक भाषा और संस्कृत भाषा के संबंध को भली-भांति समझने में 'पालि' से बड़ी सहायता ली जा सकती है', इस उक्ति पर सम्यक् विचार कीजिये ।

(७) पालि-वर्णमाला में कितने वर्ण हैं ? इसकी वर्णमाला की विशेषताओं की तुलना संस्कृत-वर्णमाला और हिन्दी-वर्णमाला से कीजिए और बताइये कि पालि-वर्णमाला से हिन्दी को परोक्षतः क्या मिला है ।

(८) पालि स्वरों और व्यंजनों की विवेचना कीजिये ।

(९) पालि-कारकों की तुलना हिन्दी-कारकों से करते हुए दोनों की विभक्तियों की विवेचना कीजिये ।

(१०) पालि की कौन-कौन सी विभक्तियों के रूप एक-से दीख पड़ते हैं ?

(११) पालि में हिन्दी के कौन-कौन से स्वर और व्यञ्जन नहीं मिलते ? समझा कर लिखिये ।

(१२) पालि में कितने लकार हैं और उनमें से अधिक प्रयुक्त कौन-कौन-से हैं ?

(१३) प्रत्यय किसे कहते हैं ? तद्धित और कृदन्त में क्या अन्तर है ? त्वा, तून, त, वत, तब्ब प्रत्ययों को उदाहरण देकर बताइये ।

(१४) भविष्यत्कालिक विशेषण पालि में कैसे बनते हैं ? दो उदाहरणों से स्पष्ट कीजिए ।

(१५) क्रिया के वाच्य से क्या अभिप्राय है ? पालि में कितने प्रकार के वाच्य मिलते हैं ? उनका अन्तर समझाकर बतलाइये ।

(१६) प्रत्यय के मुख्य भेद बतलाते हुए उपसर्ग और परसर्ग का अन्तर बतलाइए ।

(१७) 'भू' और 'दा' धातुओं से भूतकालिक और वर्तमान कालिक विशेषण बनाइये।

(१८) आत्मनेपद और परस्मैपद में क्या भेद है? दो उदाहरणों द्वारा उनका अन्तर समझाइये।

ख—साहित्य

(१) पालि-साहित्य का धर्म से क्या संबंध है?

(२) पालि-साहित्य का वर्गीकरण कीजिए।

(३) जातक का अभिप्राय व्यक्त करते हुए उसके साहित्य के सम्बध में कुछ प्रकाश डालिए।

(४) जातक के प्रमुख अंगो की विवेचना करते हुए उसमें गाथाओं का स्थान निर्धारित कीजिए।

(५) जातक-कालीन समाज का परिचय दीजिए।

(६) 'जातक' में कहानी के तत्त्वों की गवेषणा कीजिए।

(७) जातक के धार्मिक पक्ष पर प्रकाश डालिए।

(८) जातक में संवादों का स्थान देखते हुए पशु-पक्षियों के समावेश का मूल्य आंकिए।

(९) 'यदि जातक बौद्ध-दर्शन के किसी विशेष पक्ष पर विशेष बल देता है तो वह है पुनर्जन्मवाद', इस उक्ति की सम्यक मीमांसा कीजिए।

(१०) हिन्दी साहित्य के अध्ययन में जातक से क्या सहयोग मिल सकता है? अपना मत तर्कपूर्वक दीजिए।

(११) जातक कथाओं में हास, व्यंग्य और विनोद की आवश्यकता और स्थान का निरूपण कीजिए।

(१२) 'जातक कथाओं में कर्म-सिद्धान्त की स्थापना की गई है,' इस उक्ति के समर्थन में अपने पाठ्य-ग्रन्थ से उद्धरण देते हुए सिद्ध कीजिए कि कर्म-सिद्धान्त का पुनर्जन्मवाद से भी अटूट संबंध है।